वार्षिक अंक 2020

अनुनाद

साहित्य के जन- सरोकारों की ऑनलाइन त्रैमासिक पत्रिका

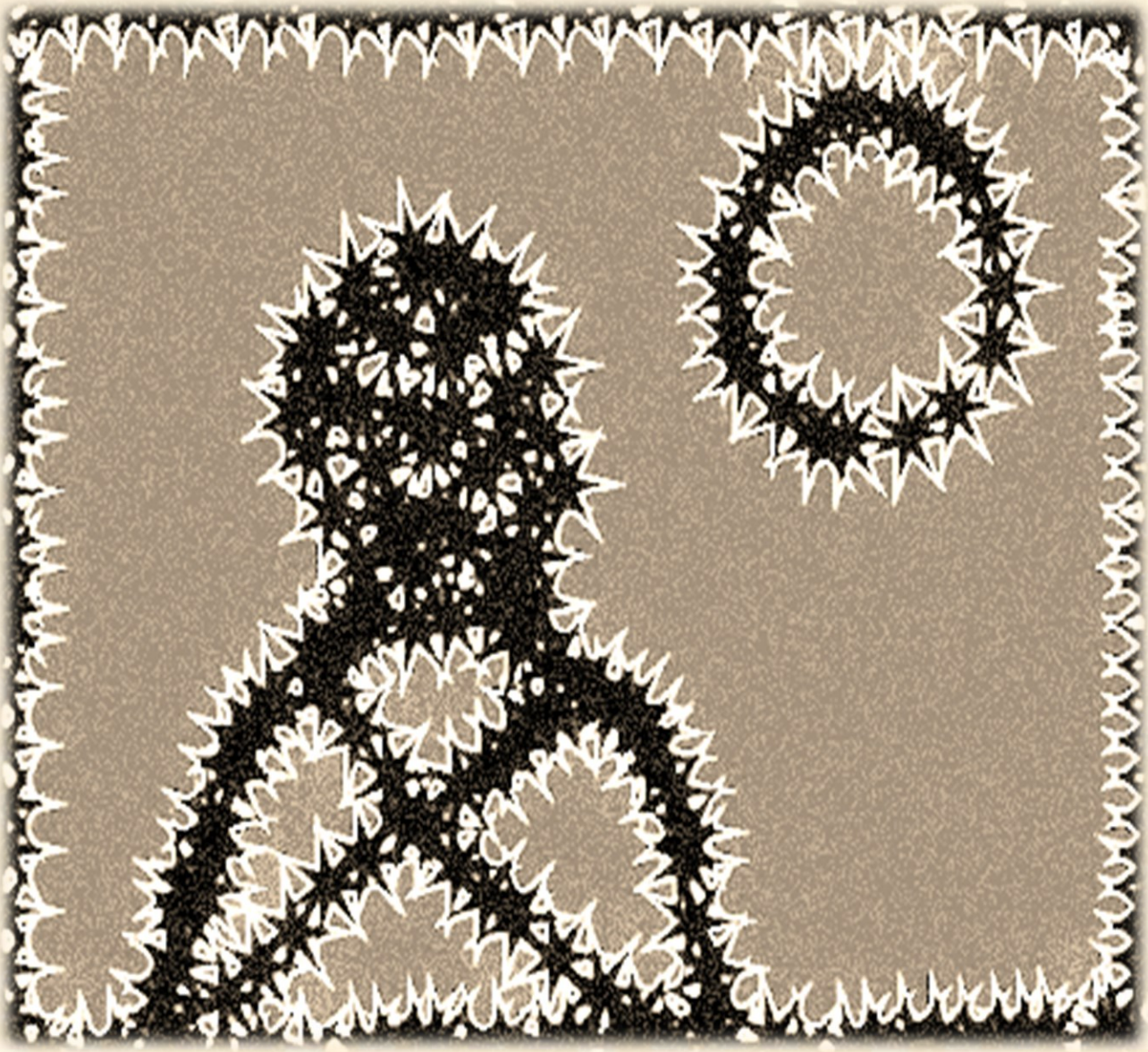

संपादक

शिरीष मौर्य

मेधा नैलवाल

अनुक्रम

1. आ रहा हूँ तुमसे मिलने साठ के विमल कुमार/ पृ. 3
2. समालोचन @ १० : बड़ी मुश्किल से होता है चमन में दीदावर पैदा - सुशील कृष्ण गोरे/ पृ.9
3. पारस्परिक समझ का वृक्ष दमकता हुआ सीधा और सरल / विस्वावा शिम्बोर्स्का की कुछ कविताएँ/ चयन और अनुवाद – श्रीविलास सिंह / पृ.12
4. तुम जा रहे हो और आंखें मिला नहीं पा रहे/ राजीव कुमार की कविताएं / पृ.18
5. सहूलियात के विरुद्ध अदावतों के इलाक़ों में - विष्णु खरे/ कुमार अंबुज / पृ.22
6. तब केवल उम्मीदों में होते हैं बीज और बारिश / राकेश मिश्र की कविताएं / पृ.25
7. पाब्लो नेरूदा और बेंजामिन प्रादो की कविताएँ - मूल स्पैनिश से अनुवाद/ मंजू यादव / पृ.30
8. बिंदु - बिंदु जल / सुलोचना वर्मा की कविताएं / पृ.35
9. कब नहीं रोया है पहाड़ - खेमकरण 'सोमन' की कविताएँ/ पृ.39
10. सपनों के षड्यंत्र और विकल्पों की दुनिया - डॉ. अजित की कविताएँ/ पृ.45
11. आशंकाओं के बीच आशा - विवेक निराला की कविताएँ/ पृ.53
12. एक बस्ती हम जैसों के लिये - वीरेन्द्र गोस्वामी की कविताएँ/ पृ.58
13. थक जाते थे हम कलियाँ चुनते - प्रचण्ड प्रवीर (बाल साहित्य/कविता पर आलेख) / पृ.62
14. जो कुछ है बेतरतीब मेरा - तस्लीमा नसरीन की तीन कविताएँ : अनुवाद - सुलोचना वर्मा/ पृ.70
15. उन सपनों को पूरा करने की चाह में - विजय विशाल की कविताएँ/ पृ.73
16. सभी जाएँगे मुझको भूल : विष्णु खरे की कविता पर विशाल श्रीवास्तव का लेख/ पृ.78
17. हिन्दी सीझ रही है मनुज की आत्मा में - मंजुला बिष्ट की कविताएँ/ पृ.86
18. जब सारी बड़ी-बड़ी नदियाँ थक गईं - संदीप तिवारी की चार कविताएँ/ पृ.90
19. भूख के पैर उग आए - गिरीश चंद्र पांडे की कविताएँ/ पृ.94
20. पिछले शरद के पहले नए थे नीलकुरिंजी के फूल – कुशाग्र अद्वैत की कविताएँ/ पृ.98
21. विपदाएँ नया रच कर जाती हैं - आशीष कुमार तिवारी की कविताएँ/ पृ.104
22. धरती के किसी कोने में - रमेश शर्मा की कविताएँ/ पृ.109
23. आँखों की नदी में हिल रहे हैं सपने - जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताएँ/ पृ.111

24. बापू की लाठी पर टिकी है पृथ्वी - रोहित कौशिक की कविताएँ/ पृ.116
25. विदग्ध देहों का जल-स्पर्श - अमिताभ चौधरी की कविताएँ / चयन : प्रशांत विप्लवी/ पृ.118
26. लोगों को दुखों के कलात्मक ढाँचे आकर्षित करते हैं - जोशना बैनर्जी आडवाणी की कविताएँ/ पृ.122
27. जो पैर कभी नहीं चलते वो गप्प लगाते हैं - गौरांशी चमोली की कविताएँ/ पृ.129
28. क्योंकि उसे सिर्फ़ शब्दों से नहीं लिखा जाता - रश्मि भारद्वाज/ पृ.132
29. जो संताप इन दिनों में भोगा है - शचीन्द्र आर्य की कविताएँ/ पृ.136
30. पृथ्वी की तमाम ऊर्जा अकेले कैसे चुरा सकता हूँ - अरुण शीतांश की कविताएँ/ पृ.140
31. भैया जी, यह देश बहुत बड़ा है - कमल जीत चौधरी/ पृ.143
32. हम पानी में नहीं कर्ज में डूबे थे - रोहित ठाकुर की कविताएँ/ पृ. 150
33. कठिन काल में प्रेम के दस्तावेज - देवेश पथ सारिया की कविताएँ/ पृ. 153
34. अरूणाचल के पानी में डूब रहा है केरल - अनामिका अनु की कविताएँ/ पृ. 156
35. साहित्य ज़माने भर से किया जानेवाला इश्क़ है - कुमार अम्बुज/ पृ. 161
36. यह कविता किसी दिशा में नहीं जाती इस पर चढ़ने वाले लोग अपने उतरने की व्यवस्था स्वयं कर लें - अमित श्रीवास्तव/ पृ. 164
37. गूँगी नहीं हो जाती है आत्मा - प्रदीप सैनी की कविताएँ/ पृ. 166
38. शून्यकाल में बनी सहमतियों के विरुद्ध - गणेश गनी की कविताएँ/ पृ. 170
39. आँखें नम करते सुच्चे क़िस्से - मनोज शर्मा की कविताएँ/ पृ. 175
40. एक गांछ उम्मीद की -सोनी पाण्डेय की कविताएँ/ पृ. 180
41. ये दु:ख की नदियाँ हैं क्योंकि किसानों की नदियाँ हैं - कुमार मंगलम की कविताएँ/ पृ. 183
42. मैं नष्ट कविताओं के सौंदर्य से चिपट कर सोती हूँ - ज्योति शोभा की कविताएँ/ पृ. 188
43. ताकता हुआ मैं दिशाकाश : कविता का युवा मौसम - सिद्धेश्वर सिंह/ पृ. 194
44. अजंता देव की कविताएँ/ पृ. 197
45. छंद की समकालीनता या तो यमाताराजभानसलगा: 1 - संदीप तिवारी/ पृ.198
46. हेमंत देवलकर की दो कविताएँ/ पृ.201
47. जीवन की भाषा या तो कविता की भाषा - 1 : अमित श्रीवास्तव/ पृ.204

आवरण और रेखांकन : शिरीष मौर्य

आ रहा हूँ तुमसे मिलने साठ के विमल कुमार

अग्रज कृष्ण कल्पित ने आज कहीं लिखा है कि युवा कवि विमल कुमार साठ के हो गए। एकबारगी परिहास-सी लगती यह बात दरअसल कविता में विमल कुमार की ऊर्जा की ठीक-ठीक शिनाख़्त करती है। विमल जी को मैंने 1992 में उनके प्रथम संग्रह **सपने में एक औरत से बातचीत** से जाना। उस बातचीत से लेकर इधर उनकी विकल राजनीतिक कविताओं तक उनका व्यक्तित्व देखें तो पाएँगे कि उनमें वह आक्रोश और एक्टीविज़्म भरपूर है, जिसे आप किसी युवा कवि में रेखांकित करते हैं, साथ ही उतना ही विकल एक रूमान किंवा अतीव भावयोग प्रेम के प्रति उनमें सदा जीवन्त दिखाई देता है। बिलकुल अलग आस्वाद की इन कविताओं के प्रकाशन के साथ अनुनाद उनके जन्मदिन पर उन्हें सादर-सप्रेम बधाई देता है।

देह की कातर प्रार्थनाएं

उसने मुझे भी बहुत परेशान किया है
कई बार मैं सीढ़ियों से गिरते गिरते बचा हूँ
कई बार फिसला भी हूँ
गुसलखाने की काई से

कई बार लगा कि मैं जंगल में भटक जाऊंगा
कई बार तो लगा बाघ मुझे जिन्दा नही छोड़ेगा
किसी सुरंग में अटक जाऊंगा
उसने मुझे गहरे अँधेरे में रखा है

वह इस तरह मुझे पुकारती रही
बेचैन करती हुई रात के सन्नाटे में
उसने वाकई मेरा जीना हरम भी किया है

मैंने भी कहा उस से
इस दुनिया में मुझे भी रहना है
आखीर कब तक मैं तुम्हारे किस्से छिपाता रहूँगा
बिस्तरों से बचकर
कब तक यह झूठ बताता रहूँगा

मछलियाँ मेरे नसों में नही मचलती
कोई धुंआ नही उठता नही मेरे भीतर
कोई गंध मुझे नहीं खींचती अपने करीब
लेकिन हर बार वह मुझसे करती रही प्रार्थनाएं
मैंने कहा भी
-- यह सुख नहीं है

कितनी बार इसमें अपमान छिपा होता है
कितनी बार झूठ
कितनी बार एक विवशता
कितनी बार यह एक दायित्व भी था
कितनी बार एक रस्म
लेकिन इसने मुझे जीवन भर पुकारा है

कहा है --
मैं तो एक प्यासा कुआं हूँ

जब वह जर्जर हो गयी
खंडहर में बदल गयी
हड्डियों में ज्वर फैला
शरीर में थकान और दर्द
तो उस पर दया भी आयी
उसे दवा भी देनी पडी

चीरे भी लगे उसके भीतर
खून भी बहा
प्लास्टर भी हुआ
वह अब शांत हो गयी है
उसने गुर्राना छोड़ दिया है
लेकिन मैं उसे कैसे भूल सकता हूँ
कि उसने मुझे कितना तबाह किया है
उसे त्याग भी नही सकता था
जब मैं जाऊंगा इस दुनिया से
तब वह भी जायेगी मेरे साथ
आग में भस्म हो जायेगी
जो खुद आग लगाती रही जीवन भर
मेरे भीतर .
और उसकी लपटें बुझाने के लिए भटकता रहा
उसकी अस्थियों में
उसकी कहानी को नही खोजा जा सकता
है

आ रहा हूँ तुमसे मिलने

आ रहा हूँ
तुमसे मिलने आज की शाम
हाथों में टूटे हुए पंख लिए
और पीठ पर कई ज़ख्म लिए
पसीने से लथपथ
और खून से लहूलुहान
पांव में छाले लिए

आ रहा हूँ
पार्क की बेंच पर
तुम्हारे साथ बैठकर
सुस्ताने के लिए
थोड़ी देर
हालाँकि भीतर से
अब कोई इच्छा नहीं रह गयी है
तुमसे मिलने की
वो उमंग और उत्साह भी
अब ख़त्म हो गया है
पर आ रहा हूँ तुमसे मिलने
क्योंकि तुमने मुसीबात में मुझे पुकारा है
ऐसे में आना ही चाहिए
एक इंसान को
किसी के काम
अपने मतभेदों को भुला कर

कोई दर्द है तुम्हारे पास अभी
कोई बेचैनी
कोई छटपटाहट
कोई चीख सीने के भीतर
मैं उनसब आवाजों को सुनकर आ रहा हूँ तुम्हारे पास
अब कुछ भी नहीं है उम्मीद तुमसे
उम्मीद के कारण ही दुःख है
इसलिए बिना किसी उम्मीद के आ रहा हूँ
कोई रौशनी मिल जाये तो ठीक है
वर्ना अँधेरे में ही चला लूँगा अपना काम
कोई धूप खिल जाये तो उत्तम
कोई फूल खिल जाये तो ठीक
नहीं तो उसके बगैर भी ये ज़िन्दगी गुजर लूँगा अब

आक्सीजन न हो
न हो पानी
न हो बादल

न हो आसमान
तो कोई फर्क नहीं पड़ता
खुद को अब समझ लिया है मैंने
इसलिए तुमसे मिलने आ रहा हूँ
कल शाम पांच बजे का समय दिया है तुमको
मिलेंगे तो एक कप पीयेंगे चाय तुम्हारे साथ
उसी दूकान पर उसी नुक्कड़ पर
जहाँ से हर बार एक जूलूस निकलता रहा
कुछ गप्पे भी करेंगे
याद करेंगे अपने कुछ बीते हुए पल

मैं आ रहा हूँ तुमसे मिलने
हर हालत में
जबकी घायल हो गया हूँ इनदिनों
मेरी आवाज़ भी लगभग चली सी गयी है
चला नहीं जाता मुझसे घुटने के दर्द के कारण
पैन किलर खा कर जी रहा हूँ आजकल

फिर भी मैं आ रहा हूँ
क्योंकि नहीं आया तुमसे मिलने
तो तुम्हे तकलीफ होगी
तुमने भी मेरी मदद की है
मेरे गाढे दिनों में

मैं नहीं चाहता कि तुम्हे कोई दुख हो
जब पहले से ही इतना दुख है तुम्हारे पास
मैं आ रहा हूँ तुमसे तुम्हारा हाल लेने
बच्चे कैसे हैं तुम्हारे
उन्हें नौकरी मिली या नहीं
तुम्हारे भाई के मुक़दमे का क्या हुआ
तुम्हारी बहनों की शादी हो गयी
तुम्हारी मा के आपरेशन का क्या हुआ

मैं आ रहा हूँ तुमसे मिलने
कि जान सकूँ थोडा अपने समय का इतिहास
तुमसे मिलकर जान सकूँ
अपने शहर की नदी को
देख सकूं कोई घड़ी
जो अभी भी टिक टिक कर रही है
आ रहा हूँ

तुम उसी जगह इंतज़ार करना
जहाँ तुमने पहली बार इंतज़ार किया था
ठीक से सड़क पार करना
क्योंकि अब भीड़ बहुत हो गयी है शहर में
और बाज़ार भी खुल गएँ है
कई शोपिंग माल
हत्याएं भी होने लगी हैं दिन रात
और बलात्कार कीइतनी घटनाये
महंगाई पहले से अधिक

आ रहा हूँ तुमसे मिलने
अपनी मृत्यु से कुछ साल पहले
एक बार फिर अपने वक़्त से लड़ने के लिए
आखीर अकेले कब तक निहत्थे
कोई लड़ सकता है
इस दुनिया कोई लडाई

संकट में था जीवन, प्रेम में कोई द्रव्य नहीं था

1
सीढ़ियां थीं
तालाब के
भीतर ही भीतर

फूल सारे कमल के प्यासे थे

2

बस किसी की पुकार थी

जलकुंभियों में

नसों में दौड़ती बिजलियाँ
छटपटाती हुई

बिस्तर पर न जाने कब से
मछलियां
अपने कहानी सुनाती हुई

3

रेत की आंधी थी
प्रेम था
या नहीं
भाषा
संकेत
मौन
बचा था
कुछ भी तरल नहीं था
पिघलता हुआ

कुछ भी रिस नहीं रहा था
पोरों में
दर्द बहुत था
जोड़ों में

4

यह जीवन भी
किसी मृग मरीचिका से कम नही था
पूरी कर ली जीवन यात्रा
तुम्हारे प्रेम से वंचित रहने का अब
कोई दुःख नहीं था

5

नहीं कह सकता था
जो मुझे कहना चाहिए था
नहीं लिख सकता था
जो मुझे लिखना चाहिए था
नहीं देख सकता था
जो मुझे देखना चाहिए था

फिर कैसे कह सकता था
कि करता हूँ प्रेम तुमसे
बिना कहे बिना लिखे
बिना सुने
बीत गए सारे पल

निकट अब मृत्यु के
सिर्फ एक छाया बची है
अंधेरे में

जीवन उसी में
एक कठपुतली सा
कभी कभी हिलता डुलता है

6

नहीं नहीं बिल्कुल नहीं
दिखता नहीं प्रेम कहीं
वीरानी सी कोई वीरानी है
किस पत्थर पर बची निशानी है

तुमने कभी नहीं लिखी
मेरे जीवन मे
अपनी कहानी है

7

नही कर सका स्पर्श

तुम्हारी देह का मानचित्र

नही जा सका किसी गुफा में
जंगल के बाहर खड़ा हूँ

पत्तों पर लिखा हूँ
अतृप्त कामनाएं

छोड़ आया हूँ दूर
बहुत दूर
अपनी वासनाएं

8

इतनी आपा धापी में बीता जीवन
कहीं कोई द्रव्य नही है
बहता
दुख इतना मैं अपने शरीर मे सहता
शोर भरे घर में
अब कुछ भी श्रव्य नहीं है

9

इतनी चीख पुकार में
चारों तरफ खींची तलवार में
क्या बचा प्यार में

जीवन बीता
व्यर्थ अभिमान में
अहंकार में

10

रोशनी के पीछे
भागते हुए लोग थे

चाँद को
जुगनुओं को
तितलियों को
पकड़ने के लिए
दौड़ते
रोज यश इधर उधर
बटोरते

आत्मनिर्लिप्त
दरवाजों पर

आत्म मुग्ध
खिड़कियों पर
प्यार लिखा नही होता है

11

किस सुख की तलाश में था मैं
कभी वृक्ष की ओट में
कभी घास में था मैं

जीवन भर
एक अजीब प्यास में था मैं
प्रेम की उजास में था मैं
या तिरस्कार में था मैं

12

छूट गयी नौकरियां थीं
टूट गयी सारी खिड़कियां थी
चीख रही झोपड़ियां थीं

बिलबिला रहे थे लोग

चिल्ला रहे थे लोग
एक दूसरे पर झल्ला रहे थे लोग

जीवन में जीवन होता
फिर कोई द्रव्य होता
तब कोई पास होता
तब कोई हंसता
तब कोई रोता
पास बिस्तर पर कोई सोता

13

उन्नत वक्ष पड़ गए थे ढीले
नाभि प्रदेश में पीड़ा थी
कटि द्वार पर उदास लकीरें
न कोई जलती मोमबत्ती
न कोई तूफान
न कोई स्वर लहरियां
न शंख ध्वनि

जीवन सत्य का कोई संधान नही था
सुख का भी कोई ज्ञान नही था

14

फिर से जीना था
जीवन
फिर से करना था
प्रेम
फिर से करना था अवलोकन
फिर से सीखना था
लिखना
फिर से रियाज करना था
फिर से ढंकना था मुख
 अग्नि पुष्प में
फिर से आलिंगनबद्ध होना था

जाड़े की धूप में
 फिर से खोजना था प्रेम
जंगल मे
समंदर में
कुछ भी नहीं बचा था
अपनी त्वचा के
अंदर में

15

प्रेम एक दर्पण में
स्मृति का एक चिन्ह है
कांच पर बना
वाष्प का बिंब है
एक कल्पना है
जो अमूर्त है
खरगोश को पकड़ना मना है

***

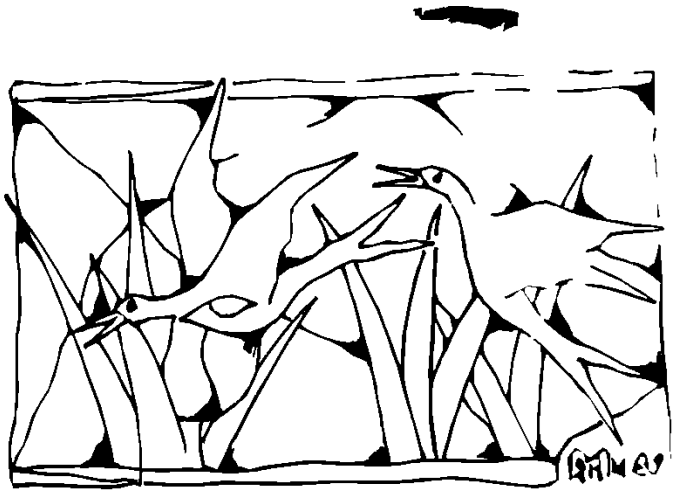

समालोचन @ १० : बड़ी मुश्किल से होता है चमन में दीदावर पैदा

सुशील कृष्ण गोरे

हिन्दी में ब्लॉगिंग के मायने ठीक वही कभी नहीं रहे, जो अंग्रेज़ी में हैं या जो उसके तकनीकी मायने भी हैं। हिन्दी के लोगों ने उसे निजी स्पेस की तरह इस्तेमाल न करके सामूहिक जगहों में बदल दिया है, जहाँ एक बड़ा हिस्सा साहित्य और उससे जुड़ी गतिविधियों का रहा। हिन्दी में ब्लॉग, कोरी ब्लॉगिंग न रह कर ब्लॉगपत्रिका बने। अनुनाद ने भी 2007 में इसी तरह आरम्भ किया था

हिन्दी में साहित्य से जुड़े ब्लॉग्स के इतिहास और संघर्ष पर अब शोध हो सकता है और इस पूरे परिदृश्य में अरुण ने ब्लॉग को साहित्य की बड़ी पत्रिका में बदल देने का चमत्कार दरअसल कर दिखाया है। मुद्रण के निकट संसार से तुलना करूँ तो आज समालोचन की वैसी प्रतिष्ठा है, जैसी पहल, तद्भव आदि की रही है।

अरुण की एकाग्रता, समर्पण और सम्पादकीय विवेक से सम्भव हुई इस प्रिय पत्रिका का आज जन्मदिन है। 12 नवम्बर 2010 को जन्मा समालोचन दस वर्ष का हो गया है। सुशील कृष्ण गोरे के इस लेख के साथ अनुनाद अपने भाई समालोचन को बधाई देता है।

“कई दफ़ा ख़याल आता है कि इन वर्षों में शायद आप अपने लेखन पर ज़्यादा फ़ोकस कर सकते थे। अपने मन के काम कर सकते थे। (ज़्यादातर लोग यही करते हैं) लेकिन आपने एक मुश्किल और ज़िम्मेदारियों से भरी राह चुनी...और यह हिंदी बोलने/बरतने वालों के लिए ख़ुशी की बात है कि आपने साहित्य और बौद्धिक विमर्श की यह ज़िम्मेदारी बहुत क़ायदे और नफ़ासत से निभाई है। बाक़ी सब तो उस धूप का आनंद ले रहे हैं जो आपकी मेहनत से उगी है।“

नरेश गोस्वामी

(प्रतिमान : सहायक संपादक) “समालोचन एक दरवाज़ा है, एक कसौटी और भरोसेमंद दोस्त.”

अनुराधा सिंह (कवयित्री, अनुवादक)

21वीं सदी अभी दसवाँ बसंत देख कर कुछ आगे बढ़ रही थी। यह वह समय था जब आती हुई सदी सहमी-सहमी उन सपनों को तामीर करने की जमीन तलाश रही थी जिन्हें पिछली सदियों ने देखा था। अतिशय जिम्मेदारियां किसी को भी सहम कर चलना सिखा देती हैं। 20वीं सदी के ऊपर भी जिम्मेदारी थी। उसने भी एक देश के भीतर उठते आजादी के ख्वाबों और इरादों को एक संगठित संघर्ष में बदलने की जिम्मेदारी से अपनी यात्रा शुरू की थी। उसके कंधों पर पिछली सदियों की रेनेसां, विज्ञान, तर्क, स्वाधीनता, समता, बंधुत्व, आधुनिक राष्ट्र राज्य, लोकतंत्र, औद्योगिक क्रांति आदि बड़े आख्यान थे और उनका आत्मबोध था।

हमारी सदी के पास दो महायुद्धों का गुजरा हुआ दु:स्वप्न था। शीतयुद्ध की खरोंचे थीं। बँटी हुई दुनिया थी। नाटो, वारसा पैक्ट के गहरे साए थे। परमाणु हथियारों का आजमाया हुआ भयानक डर था लेकिन हमने देखा है कि डर के साथ डर का व्यापार और वाणिज्य भी था। हेंस मार्गेन्थाउ, हेडले बुल एवं केनेथ वाल्ट्ज ने इस परमाणु संस्कृति के बढ़ते प्रभाव को विश्लेषित

करते हुए माना है कि परमाणु आयुधों का जखीरा इसलिए बढ़ता जा रहा है कि सभी को लगता है कि वह जरूरत पड़ने पर शत्रु को उसी की भाषा में जवाब दे सकता है। इसे रक्षानीति में शक्ति-संतुलन यानी बैलेंस आफ पॉवर कहा गया। ये सभी चर्चाएं 20वीं सदी के आखिर में आते-आते मुख्य सुर्खियों से बाहर हो गई थीं और उनके स्थान पर पर्यावरण संकट, प्रौद्योगिकी, भूमंडलीकरण आदि से जुड़े नए विमर्श सतह पर आकर दुनिया का ध्यान खींचने लगे थे।

21वीं सदी अपने एजंडे पर कार्यान्वयन शुरू करने जा ही रही थी कि उसकी टक्कर विश्व आर्थिक संकट 2008 से हो गई। भारत की अर्थव्यवस्था उदारीकरण, निजीकरण एवं भूमंडलीकरण के अपने प्रयोगों और परीक्षणों से गुजर रहा था। वह मुक्त बाजार द्वारा संचालित नई अर्थव्यवस्था के नए अनुभवों का समय था। चारों तरफ मार्केट, मॉल, मल्टीप्लेक्स, मनोरंजन की नई धूम थी। 21वीं सदी मार्का एक नए उपभोक्तावाद का जन्म हो रहा था। सब कुछ एक नई ऊर्जा और नई उम्मीद की तरंग पर बढ़ रहा था।

तमाम बदलावों से मुखातिब सदी के इस पहले दशक की अवधारणा एवं संरचना दोनों के स्तरों पर चल रही गहमागहमी के बिल्कुल पार्श्व में **समालोचन** का भी जन्म होता है। उस समय भारत में इंटरनेट का प्रचलन बढ़ रहा था। कुछ प्रारंभिक हिंदी चिट्ठा उर्फ़ हिंदी ब्लॉग बन भी गए थे। सोशल मीडिया का उभार हो रहा था। अरुण देव का जेएनयू में खरीदा हुआ कंप्यूटर एकदम तैयार था **समालोचन** का श्रीहरिकोटा बनने के लिए – जहां से डिजिटल आकाश में अपने रंग और अपने ढंग की एक बेजोड़ वेब पत्रिका का 12 नवंबर 2010 को सफल प्रक्षेपण हो सका। इसका श्रेय अरुण देव की हिंदी में 'हिंदू' जैसी पत्रिका संपादित करने की दीवानगी और वज़ीफे से खरीदे गए उनके कंप्यूटर दोनों को जाता है।

दीवानगी और जुनून से किसी प्रोजेक्ट का जन्म तो हो सकता है लेकिन उसकी लगातार परवरिश करते रहना, उसे प्रासंगिक बनाए रखना, उसकी विश्वसनीयता की धार बचाए रखते हुए लोकप्रिय भी बनाए रखना कोई सहजसाध्य उपलब्धि नहीं है। इसमें कोई शक नहीं कि हिंदी के मठों, पीठों और गुटों के बीच से बचते हुए पत्रिका को उसके गुटनिरपेक्ष चरित्र में विकसित करना अरूण देव के लिए वाकई बहुत टेढ़ी खीर रही होगी। लेकिन सृजन की यह एक अनिवार्यता है जिसे समालोचन अपनी रचनात्मक नैतिकता के बल पर निभाता रहा है।

वह सृजनशीलता की बहुलता और विविधता में विश्वास करता है – सत्ताओं एवं संहिताओं में नहीं। यही वज़ह है कि यहां केवल हिंदी का शुद्ध साहित्य ही नहीं है, सिनेमा, संगीत, कलाएं, दर्शन, इतिहास, वैचारिकी, सामाजिकी, बहस, चिंतन, यानी पूरे सांस्कृतिक विमर्श की मौजूदगी है।

आप उस समय के राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय परिदृश्य के किसी भी कोने में खड़े होकर देखें तो गहरे रूपांतरणों से गुजरते समय में संस्कृति, साहित्य, कला और उससे जुड़े तमाम सह-विमर्शों के आयतन वाला प्रकाशन शुरू करना भी कहीं न कहीं जरूर एक सही समय पर अपने लिए जिम्मेदारी की एक भूमिका तलाशनी रही होगी।

मैं आज समालोचन पलटकर पीछे देखे रहा था। 12 नवंबर 2010 की पहली पोस्ट मानो उसी जिम्मेदारी को समालोचन की फ्लैगशिप थीम के रूप में प्रस्तुत करती है। इस थीम पर ग़ौर करने की जरूरत है। कई बार ऐतिहासिक कृतियों की नक्श एवं इबारतें कृतिकार के हाथों यूं ही लिख जाती हैं, सँवर जाती हैं। मुझे मालूम है 12 नवंबर 2010 की वह थीम भी अरुण के हाथों ऐसे ही लिख गई होगी। इस थीम का नाम था – ***मैं कहता आँखिन देखी*** । इस पोस्ट में समालोचन के यशस्वी संपादक अरुण देव ने हिंदी के मूर्द्धन्य चिंतक आलोचक प्रो. मैनेजर पाण्डेय का इंटरव्यू किया है

जिसका उन्होंने शीर्षक दिया था – ***साहित्य का भविष्य और भविष्य का साहित्य।***

आप देख सकते हैं कि समालोचन का लोकार्पण ही कबीरवाणी से होता है। यह सीधे तौर पर स्पष्ट कर देता है कि सच के साथ खड़े रहने की उसकी अंत:प्रेरणा ही उसकी उद्घोषणा है। यह सच चाहे साहित्य का हो, विचारों का हो, अनुषंगी प्रतिबद्धताओं का हो या फिर मूल्यों से टकराव और मूल्यों में बदलाव के लिए जरूरी सच क्यों न हो, इन सभी पर निर्द्वंद्व एवं निष्पक्ष रूप से रचनात्मक हस्तक्षेप का एक महत्वपूर्ण स्पेस है – समालोचन। इस पर सृजन के सभी विधागत नवोन्मेषों की बहुत शालीन और कलात्मक प्रस्तुतियां हैं। अपने स्तरीय आस्वाद एवं चाव से कहीं विचलित न होना समालोचन की सबसे ख़ास पहचान है जिसके पीछे उसी का अपना एक विशिष्ट सृजन-संस्कार और विवेक काम करता है।

समालोचन की लोकप्रियता अलग प्रकार की है। वह ग़ैर-पारंपरिक प्रकार की है। उसने लोकप्रियता के नए प्रतिमान रचे हैं। उसने अपनी सभी प्रस्तुतियों को हर बार अपने बेंचमार्क पर प्रस्तुत किया है। नयापन और निष्पक्षता दो ऐसे बेंचमार्क हैं जिसके कारण आज समालोचन के लिए अपनी कहाँ से शुरू करके कहाँ तक पहुँचने की यात्रा तय कर पाना संभव हो सका है।

यह बात भी नोट करने की है कि समालोचन ने हिंदी में संपादन को भी काफी हद तक पुनर्परिभाषित करने का काम किया है। पहला तो यह कि एक नए प्रकार के वर्च्युअल माध्यम में किसी हिंदी वेब पत्रिका को सफलतापूर्वक प्रतिष्ठित करना ही अपने आप में एक नया प्रयोग है और एक नई चुनौती भी। समालोचन ने इसे बखूबी कर दिखाया है।

इस माध्यम में संपादक ही प्रूफ पढ़ रहा है, वही पेज बना रहा है, वही आलेखन, रेखांकन, चित्रांकन, आर्काइव भी कर रहा है। यानी टेक्नोलॉजी पर पकड़ भी संपादक की नई अर्हता है। अरुण देव ने अभी हाल ही में किसी साक्षात्कार में कहा है कि वे प्रतिदिन 5-6 घंटा समालोचन को देते हैं। अरुण देव भी गृहस्थ हैं, नौकरी-पेशा और परिवार वाले आदमी हैं, ऐसे में आप अंदाज लगा सकते हैं कि वे किस प्रकार घर-परिवार के साथ-साथ पत्रिका के लिए अपना कितना समय और श्रम लगा रहे होंगे। वे अंतर्द्वन्द्व के एक अन्य स्तर पर भी खुद से जूझ रहे होंगे। यह वे ही जानते होंगे। मैं तो इतना भर जानता हूँ कि केवल और केवल समालोचन के कारण किस प्रकार एक बहुत महत्वपूर्ण कवि अब मुख्यत: एक संपादक के रूप में एक जरूरी समय में अपने हिस्से की जिम्मेदारी पूरी हिकमत से उठा रहा है।

लेकिन, कुछ भी हो अरुण देव के संपादक और उसकी दीवानगी ने पत्रिका को अपनी एक वज़ूद तो दे ही दी है।

हैप्पी बर्थ-डे समालोचन !

सुशील कृष्ण गोरे

लेखक, अनुवादक

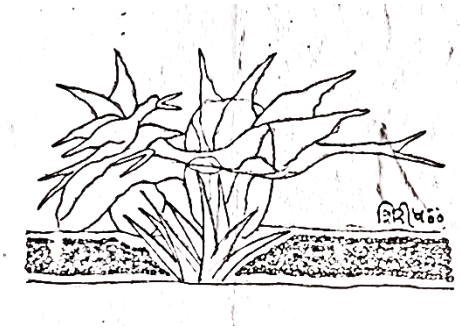

पारस्परिक समझ का वृक्ष दमकता हुआ सीधा और सरल / विस्वावा शिम्बोर्स्का की कुछ कविताएँ

अनुवाद - श्रीविलास सिंह

एक वाक्य में कविता की परिभाषा ! अच्छा, ठीक है. हम कम से कम पांच सौ परिभाषाएं जानते हैं लेकिन उनमें से कोई भी हमें सटीक या पर्याप्त नहीं लगती. हर परिभाषा अपने समय के स्वाद को अभिव्यक्त करती है. जो ये अपने अंदर धंसा हुआ शंकावाद होता है न, ये हमें हमारी अपनी परिभाषा गढ़ने की कोशिश से दूर रखता है. लेकिन हमें कार्ल सैंडबुर्ग की प्यारी उक्ति याद है: कविता, समंदर के एक जीव की डायरी है जो ज़मीन पर रहता है और उड़ान भरने की चाहत रखता है. हो सकता है इन्हीं दिनों वो ऐसा कर गुज़रे।

- विस्वावा शिम्बोर्स्का

यूटोपिया (आदर्शलोक)

द्वीप, जहाँ सब कुछ हो जाता है स्पष्ट।

जहाँ है ठोस घरातल तुम्हारे पैरों के नीचे।

केवल वही मार्ग जिन पर जाने की अनुमति है।

साक्ष्यों के भार से झुकी हुई होती हैं झाड़ियाँ।

यहाँ उगते हैं उचित परिकल्पनाओं के वृक्ष

और अनंत काल से हैं शाखाएं जहाँ बिना उलझे।

पारस्परिक समझ का वृक्ष, दमकता हुआ, सीधा और सरल।

उगता है जो 'इसे अब मैं लेता हूँ' नाम के वसंत में ।

जितना घना होगा जंगल, उतना ही विशाल होगा परिदृश्य, घाटी का निश्चय ही।

यदि उत्पन्न होता है कोई संदेह, दूर कर देती है हवा उसे तुरंत ही।

आती हैं प्रतिध्वनियां अनामंत्रित

और सायास व्याख्या कर जाती हैं दुनिया के रहस्यों की।

दायीं ओर है गुफा जहाँ पड़ा है अर्थ।

बायीं ओर है गहरी प्रतिबद्धता की झील।

सत्य उतराता है सतह पर टूट कर तल से।

अकम्पित आत्मविश्वास खड़ा है घाटी में सिर उठाये।

उसकी चोटी से स्पष्ट हो जाता है दृश्य चीजों के सारतत्व का।

अपने सारे आकर्षण के बावजूद द्वीप है निर्जन,

और धुंधले पदचिन्ह बिखरे हैं इस के समुद्र तटों पर।

जाते हुए समुद्र की ओर, बिना अपवाद।

मानों यहाँ तुम कर सकते हो बस इतना भर कि चलो और कूद पड़ो गहराइयों में, कभी न आने को वापस।

अथाह जीवन में।

(स्टैनिस्लाव ब्रैंज़ाक़ और क्लेयर कावनाघ के अंग्रेजी अनुवाद से।)

मृत्यु के लिए, बिना अतिशयोक्ति

यह बर्दाश्त नहीं कर सकती मज़ाक,

एक तारे को ढूढ़ो, बनाओ एक पुल।

यह कुछ नहीं जानती, बुनाई, उत्खनन और कृषि के बारे में,

नावें बनाने या रोटी पकाने के बारे में।

हमारी भविष्य की योजना में

आखिरी हैं उसके शब्द,

जो हमेशा होते हैं मूल बिंदु से हट कर।

यह कर नहीं पाती वह काम भी

जो हिस्सा हैं उसी के धंधे का:

कब्र खोदना,

ताबूत बनाना,

सफाई करना अपने स्वयं के बाद।

जान लेने में व्यस्त

अजीब ढंग से करती है यह अपना काम

बिना किसी सिस्टम या कुशलता के

जैसे हम में से हर एक था इसका पहला शिकार।

ओह, उसके हिस्से रही हैं विजयें

किंतु इसकी अनगिनत पराजयों को देखो,

चूक गए वार,

और दोबारा की गईं कोशिशें!

कभी कभी यह नहीं होती उतनी भी सक्षम

कि मार सके एक मक्खी भी हवा में।

बहुत से हैं कीड़े

जो रेंग आये हैं इससे दूर,

वे सारे कंद, फलियां,

लताएं, पंख, श्वासनलियां,

विवाह के कोमल और जाड़े के गर्म वस्त्र

दर्शाते हैं कि वह पिछड़ गयी है

अपने अनमने काम में।

इससे कुछ होगा नहीं

और युद्धों तथा तख्ता-पलट के कामों की

हमारी मदद भी

जहाँ तक है नहीं है पर्याप्त।

हृदय धड़कते हैं अंडों के भीतर,

बढ़ते हैं बच्चों के शरीर।

कठोर बीजों से भी अंकुरित हो आती हैं पहली एक जोड़ी नन्हीं पत्तियाँ,

और कभी कभी गिर जाते हैं विशाल वृक्ष भी

जो भी करता है दावा कि वह है सर्वशक्तिमान

स्वयं जीता जागता साक्ष्य है कि

नहीं है वह ऐसा।

नहीं है ऐसा कोई जीवन

जो न हो सकता हो अमर

भले ही एक क्षण के लिए।

मृत्यु

आती है हमेशा उसी एक क्षण देर से।

व्यर्थ ही यह खींचती है हत्या

अदृश्य द्वार का।

पर आ चुके हो जहाँ तक तुम

मिटाया नहीं जा सकता उसे।

(स्टैनिस्लाव ब्रैंज़ाक़ और क्लेयर कावनाघ के अंग्रेजी अनुवाद से।)

तीन सबसे विचित्र शब्द

जब मैंने उच्चारित किया शब्द 'भविष्य'

इसका प्रथमाक्षर हो चुका था अतीत की थाती।

जब उच्चारित किया मैंने 'मौन',

मैंने नष्ट कर दिया उसे।

जब मैंने उच्चारित किया शब्द 'शून्य',

मैंने सृजित किया कुछ जो नहीं समा सकता किसी शून्य में।

(स्टैनिस्लाव ब्रैंज़ाक़ और क्लेयर कावनाघ के अंग्रेजी अनुवाद से।)

सम्भाव्यताएँ

मुझे पसंद हैं फिल्में,

मुझे पसंद हैं बिल्लियाँ,

मुझे पसंद हैं वार्ता[1] के किनारे के शाहबलूत।

मुझे पसंद हैं डिकेन्स, दोस्तयोवस्की की बजाय।

मैं पसंद करती हूँ अपने को लोगों को चाहना

मानवता को चाहने की बजाय।

मैं पसंद करती हूँ सुई धागा पास रखना जरूरत के लिए।

मुझे पसंद है हरा रंग।

मैं पसंद करती हूँ न मानना

कि तर्क है हर समस्या की जड़।

मुझे अपवाद पसंद हैं।

मैं पसंद करती हूँ जल्दी जाना।

मैं पसंद करती हूँ बात करना चिकित्सकों से

किसी और चीज के बारे में।

मुझे पसंद हैं पुराने महीन रेखाओं वाले चित्र।

मुझे पसंद है कविता लिखने का बेतुकापन, कविता न लिखने के बेतुकेपन की बजाय,

मुझे पसंद है जब हो प्रेम की बात, अनिश्चित वर्षगाँठे

जिनका उत्सव मनाया जा सके प्रतिदिन।

मैं नैतिकता-वादियों को पसंद करती हूँ

जो नहीं करते वादा मुझसे किसी चीज का।

मुझे पसंद है चालू दयाभाव

अतिविश्वासयुक्त के मुकाबले।

मेरी प्राथमिकता है असैनिक वस्त्रों में धरती।

मुझे जीत लिए गए लोग पसंद हैं देशों को जीतने के बजाय।

मुझे पसंद है कुछ दुराव।

मुझे पसंद है अव्यवस्था का नर्क व्यवस्था के नर्क की बनिस्पत।

मुझे पसंद हैं ग्रिमस की परीकथाएं

अखबारों के प्रथम पृष्ठों की बजाय।

मैं बिना फूलों की पत्तियों को पसंद करती हूँ

बिना पत्तियों के फूलों की जगह।

मुझे पसंद हैं बिना पूंछ कटे कुत्ते।

मुझे पसंद हैं हल्के रंग की आँखें क्यों कि मेरी हैं गहरे रंग की।

मुझे पसंद है मेज की दराजें।

मुझे पसंद हैं बहुत सी चीजें जिनका नहीं किया है मैंने यहां जिक्र।

और बहुत सी चीजें जिन्हें मैंने छोड़ दिया है अनकहा।

मुझे पसंद हैं स्वतंत्र जीरो

मुकाबले उनके जो पंक्तिबद्ध हैं पीछे किसी शून्य के।

मुझे सितारों के समय की बजाय पसंद है लघु कीटों का वक्त।

मुझे पसंद है थपथपाना लकड़ी को।

मैं पसंद करती हूँ न पूछना कि कब और कितना लगेगा समय।

मुझे पसंद है दिमाग मे रखना यह संभाव्यता कि

अस्तित्व के अपने हैं तर्क होने के।

1. पोलैंड की एक नदी

लेखन का आनंद

क्यों यह लिखी हुई फाख्ता विचरती है इन लिखे हुए वनों में?

पीने को लिखित जल उस झरने से जो जिस की सतह जिरोक्स कर लेगी उसकी कोमल चोंच को ?

वह क्यों उठाती है अपना सिर, क्या उसने सुना कुछ?

सत्य से उधार लिए चार दुबले पैरों पर चलती

वह कर देती है अपने कान मेरी उंगलियों के पास।

'मौन'- यह शब्द भी खड़कता है पन्ने के आर-पार

और छोड़ देता है उस टहनी को

जो उग आयी है शब्द "वृक्ष" से।

प्रतीक्षारत, कूद पड़ने को तैयार पन्ने पर।

अक्षर हैं नहीं किसी काम के,

और कारकों की पकड़ इतनी आज्ञाकारी कि वे कभी न होने देंगे मुक्त।

स्याही की हर बूंद में है शिकारियों की पर्याप्त संख्या, तैयार अपने निशानों के पीछे अपनी सिकुड़ी हुई आँखों के साथ,

किसी पल ढलुवाँ कलम से आच्छादित कर देने को तैयार,

घेर लेने को फाख्ता को और धीरे से साधने को निशाना अपनी बंदूक का।

वे भूल गए हैं कि जो है यहाँ वह नहीं है जीवन।

प्राप्त करो, दूसरे कानून, काला या सफ़ेद।

मैं कहती हूँ लगेगा पलक झपकने भर का समय और, यदि मैं चाहूँ, हो जाएगा विभक्त नन्ही अनंतताओं में,

बीच उड़ान में रुकी हुई गोलियों से भरा।

कुछ भी नहीं होगा घटित जब तक मैं कहूँ न ऐसा होने को।

एक पत्ती भी नहीं गिरेगी, बिना मेरी कृपा के,

मुड़ेगी नहीं घास की एक पत्ती तक उन खुरों के नीचे रुकने पर।

तो क्या कहीं है एक दुनिया

इसके भाग्य पर है मेरा एकछत्र अधिकार?

एक अस्तित्व हो जाता है अंतहीन मेरी इच्छा मात्र से?

लेखन का आनंद।

सुरक्षित बचा लेने की शक्ति।

एक मरणशील हाथ का प्रतिशोध।

(स्टैनिस्लाव ब्रैंज़ाक़ और क्लेयर कावनाघ के अंग्रेजी अनुवाद से।)

11 सितंबर की एक तस्वीर

वे कूदे जल रही मंजिलों से--

पहली, दूसरी, कुछ और

ऊपर की, नीचे की।

तस्वीर ने रोक लिया उन्हें जीवन में,

और बनाये रखा है उन्हें अब

धरती से ऊपर धरती की ओर।

हरेक है स्थिर एकदम,

एक विशेष चेहरे के साथ

और रक्त है अच्छी तरह छिपा हुआ।

है पर्याप्त समय

बालों के बिखर जाने को,

जेबों से चाभियों और सिक्कों के

गिर जाने को।

वे हैं अभी भी हवा की पहुंच में

उन जगहों की परिधि में

जो खुली हैं बिलकुल अभी।

मैं उनके लिए कर सकती हूँ बस दो बातें

वर्णन करना इस उड़ान का

और न जोड़ना एक अंतिम पंक्ति।

सोते हुए

मैनें सपना देखा मैं ढूंढ रही हूँ कोई चीज,

जो छुपी हो किसी जगह या खो गयी हो बेड के नीचे,
सीढ़ियों के नीचे या एक पुराने पते के नीचे।

मैंने तलाशा वार्डरोब में, संदूको और दराज़ों में

व्यर्थ ही भरे हुए बेकार की चीजों से।

अपने सूटकेसों से निकाले मैंने

साल और यात्राएँ जो की थीं मैंने।

मैंने निकाले अपनी जेबों से

पुराने पड़ चुके पत्र, कचरा, पत्ते जो नहीं थे मेरे नाम।

मैं हाँफ रही हूँ

आराम से, असुविधा से रखने उठाने से।

मैं भटकती रही बर्फ की सुरंगों और स्मृतिविहीनता में।

मैं अटकी रही कटीली झाड़ियों और व्यर्थ के अनुमानों में।

मैं तैरती रही हवा और बचपन की घास से होती हुई।

मैंने कोशिश की पूरा कर लेने की

इससे पूर्व कि पुरानी पड़ चुकी साँझ गिराती

पर्दा, मौन।

अंत मैंने यह जानना रोक दिया कि मैं

खोज रही थी क्या इतनी देर से।

मैं जाग गयी।

मैंने देखी अपनी घड़ी।

सपने में नही लगा था बस ढाई मिनट का भी समय।

यही हैं वो दाँव जो खेलता है समय

तब से ही जब से मैं टकराने लगी हूँ

सोते हुए सिरों से।

(स्टैनिस्लाव ब्रैंज़ाक़ और क्लेयर कावनाघ के अंग्रेजी अनुवाद से।

तुम जा रहे हो और आंखें मिला नहीं पा रहे

राजीव कुमार की कविताएँ

अनुनाद पर पहली बार प्रकाशित हो रहे कवि राजीव कुमार इतिहास और हिंदी साहित्य के छात्र रहे। "इंडियाज़ इस्लामिक कंसर्न" पर शोध किया है। पटना और दिल्ली विश्वविद्यालय में छात्र जीवन में अध्ययन और अध्यापन किया। कुछ वर्षों तक (दिल्ली में नवभारत टाइम्स में कार्य किया। कविताओं और आलोचना के क्षेत्र में सक्रिय उपस्थिति। विभिन्न वेबसाइट्स पर कविताएँ प्रकाशित हुईं। अभी भारत में तुर्कों के आगमन और उसके परिणाम की पृष्ठभूमि में एक ऐतिहासिक उपन्यास का लेखन कर रहे हैं।

स्मृतियां पलों की

कुछ बेतरतीब बीत गई घटनाओं की
तारीखें याद रह जाती हैं
कुछ पल अंकित रहते हैं स्मृतियों में
कुछ लम्हे भुलाए नहीं भूलते
पल छिन सजीव हो उठते हैं यदा - कदा

घटित अपना पुनरावलोकन लेकर
उपस्थित हो जाता है अचानक

स्मृतियां सहेजना जीना है
बीते लम्हों को लेकर आना
उसकी परिधि और परिप्रेक्ष्य के साथ
औचक ही किसी बात - चीत के मध्य
अतीत के बर्तनों को
वर्तमान में मांजने की कला है।

रुख़सती

तुम जा रहे हो और आंखें मिला नहीं पा रहे
तुम कभी कह सकोगे क्या कि ऐतबार तुम्हें भी था
मैं नसीब को नहीं कोसना चाहती
फैसले मेरे ही गलत थे
हौसलों पर मैं ही हारी
अंदर से यकीन था
तू निकल जाएगा एक दिन
मेरे मन में ऐसा होना नहीं चाहिए था
शक यकीन की शक्ल ले रहा था
और वक़्त उसे मुकम्मल करने में लगा था

मुझे एक यकीन और है
तुम हारकर एक दिन लौट आओगे
लेकिन लमहे नाज़ुक होते हैं
बिखर जाएंगे हम दोनों के हाथ से
दुनियादारी की हवा के झोंके सख्त हैं मेरे राजदार
मुझे भी पुकारते हैं कई रास्ते
मैं किसी और बियाबान का हिस्सा हो जाऊंगी
ठूंठ पेड़ों में उग आई हरीतीमा की झलक में
मेरे निशां यहां नहीं होंगे कल
तुम मुझे ढूंढ नहीं पाओगे

वजह बताकर शर्मिंदा न होना
तुम कुछ और बोलते रहे
चेहरा कुछ और बयान करता रहा
किसी वादे की अब ज़रूरत नहीं।

बदली हुई पहचान

एक कसक सी चुभी रह गई होगी
जब लंबे अरसे बाद आपको
एक दिन अपनी पहचान बदलनी पड़ी
कितना कुछ बिखर गया होगा अचानक

जिन बंधनों को
अभेद्य और दुर्जेय समझा जाता रहा
आपके होने मात्र से जहां आश्वस्ति सी थी
विमुख होते ही संदर्भों से
छद्म सा लगता है सब कुछ।

जीने लगती है एक परंपरा
किसी की सदेह उपस्थिति से
जुड़ जाते हैं समग्रता के सारे मिथक
जब मुश्किलों में बढ़ते हैं अपनों के हाथ।

तकलीफ तो बहुत हुई होगी
पीछे मुड़कर देख नहीं पाता आदमी
घनीभूत स्मृतियां घुमड़ने लगें बेतरह
बौछार के बदले पश्चाताप बरसता है आंखों से
कहा नहीं जा सकता
फैसला भौतिक जरूरतों ने लिया
या कहीं कोई रोशनी दिख नहीं रही थी।

पर जब आप थे
तो बसंत था
नहीं थे आतप
शांत था जंगल
हवाओं ने तहज़ीब छोड़ी नहीं थी उन दिनों।

आपने कुछ पैगाम ज़रूर छोड़ा होगा
आखरी वक़्त के असलहे
मुरादें पूरी नहीं होती, किस्म कोई भी हो
मुकम्मल जहां बना नहीं पाता आदमी।

कुंठा और विषाद की शक्ल में होते हैं
हारे हुए मंसूबे
और हिजरत करते हुए सब ऐसे ही छूट जाता है।

तुम रहोगे समाप्ति पर भी

कुछ उदास पल गिर जाएंगे बेतरतीब गुंथे हुए
असहज दिनों से निकलकर

छलक कर गिर पड़ेगी ढेर सारी उम्मीद
एक दिन सब कुछ ठीक हो जाने की

मृग की आंखों से ढलक जाएंगे कुछ अश्रु - जल
मरीचिका सहेज कर रख लेगी बूंद

तुम्हारी अंजुली से सरसराकर एक दिन
बिखर जाएगा मोह जगत का

छले गए उद्दाम प्रेम के ज्वार से
सरक जाएगी एक निश्छल प्रेमी की निष्ठा

एक दिन तुम थोड़ा सा बाकी रह जाओगे
अंतहीन प्रयाण पर निकलते हुए

छूट गए इन हिस्सों से यहीं आसपास
पटकथा को जीवित रखेंगे कुछ तेजस्वी पात्र।

लिबास और गूंज

देश और काल पर काबिज लोग
अभिनय - कला से करते हैं चमत्कृत
रोज़ रचते हैं एक नई पटकथा
सजता रहता है रंगमंच नए नाटकों के साथ
कभी पात्र वही रहते हैं
कभी दिल दहला देने वाली पार्श्व ध्वनि के बीच
अवतरित होते हैं नए किरदार
मसखरे आस में लगे रहते हैं
जब बोझिल होगा दृश्य - विधान
उनका भी आवाहन होगा

कहानी में दिलचस्प मोड़ सुनियोजित होते हैं
अवाम देखता रहता है आंख फाड़े
हर क्षण परिवर्तित व्यूह रचना निर्देशक की।
कुछ किरदार मरने के बाद लोक प्रिय होते हैं,
कुछ किरदार लोकरूचि में
मरने की कला को अंजाम देते हैं
गश खाकर कटे पेड़ की तरह
मंच से विलुप्त होते हैं किरदार
अलोम हर्षक करतल ध्वनि
दृश्य चलता रहे तो आंखें हटती नहीं,
सियासी दांव पेंच और अर्थनीति
दृष्टि कभी - कभी बाधित भी करती है ।

हम जनतंत्र के आम जन नहीं रह गए
कला मर्मज्ञ होते जा रहे
स्त्री पात्र खड़ी होकर
हमारी कला के निकष को और पुष्पित करती है
एक स्त्री चुनौती देती है
तालियां एक छोर से उठती हैं
गूंज रहती है देर तक दीर्घा में
दूसरी स्त्री लड़ते हुए आहत होती है
दूसरे छोर से क्रंदन धीमा धीमा
रुदन किसी का भी हमें व्यथित नहीं करता
दहाड़ मारती स्त्री में खोजने लगते हैं सौन्दर्य
हमारी नएपन की चाहत ढूंढ लेती है
अनावृत कला और रहस्य मयी मुस्कान
संवेदनाएं धीरे धीरे बदलती गई हैं
रूचि को ही ध्येय बना लिया हमने।

रोज़ बदल जाते हैं पात्र
रोमांच पैदा करने की योग्यता के अनुसार
उनके जन्म स्थान भी अलग अलग होते हैं
गरीब प्रदेश का पात्र हास्य पैदा करता है
मरने पर आह भी
बड़े शहरों के पात्र अपनी वाक पटुता से
दर्शक का मन मोह लेते हैं
कला के पारखी
टूटी फूटी भाषा के पात्रों के
कला सौन्दर्य पर रीझते रहते हैं
अच्छी वेश भूषा और ऊंची आवाज़
कला के उत्कर्ष हैं अब
लिबास और गूंज
लेते जा रहे आदमी की शक्ल।

भीड़ में अपनी रूह टटोलते

बहुत मुश्किल होता है

उन संभावनाओं को खत्म करना
बहुत आंखें जिन पर टिकी होती हैं
एक बियाबान भी जीता है
फूलों और हरीतिमा की आस में।

आसान नहीं उस ज़िन्दगी को खत्म करना
जिसने अभी अभी तक देखे हों
अच्छे समय के सपने
तुमने अचानक खींच भी ली जीवन डोर
वह गिरेगा अधूरी उम्मीदों के साथ
इतना कुछ बिखर जाय अगर
तो बचे हुओं के लिए समेटना आसान नहीं होता।

ये कौन लोग हैं जो
हारे हुए अपने ही युद्ध में
करते हैं निर्जन सड़कों और ट्रामों में सफर
भीड़ में अपनी रूह टटोलते
सपना देखते हैं किसी दफ्तर में काम करने का
जिनकी पगार चुरा लेती है अर्थ व्यवस्था
और जवानी रीत जाने पर भी
बसता नहीं जिनका घर
अंकुरता नहीं कहीं प्रेम
देह बह जाती है पसीने में।

आसान नहीं है इन सपनों को भी खत्म करना
इन सूख गई उम्मीदों को भी
आसान नहीं ज़िन्दगी से खारिज करना

जो वर्गीकृत है हाशिए पर मृतक समान
वह भी संदर्भ में है।

अदला बदली हुई क्या

जब संतप्त थे तुम्हारे पड़ोस में सब
किसी अज्ञात रास्ते पर अंतहीन चलते हुए
देह की अजन्मी प्यास से

जब बर्बरता परोस रही थी भूख
और रोग लील रहा था कीमती समय
कला और खुशबू की पराजय से

जीवन किश्तों में मिलने का दुख लिए
मंदिरों में हाथ उठाए प्रार्थना रत सूखे होंठ
मंत्रोच्चारण की जंगल की मर्मांतक ध्वनि से

अदला बदली हुई क्या
स्पर्श की तृष्णा से
यौवन की मृत्यु से

इतने दुष्परिणाम फिर किन संततियों के थे
चलते रहने को अभिशप्त पीढ़ियां
गायब क्यों होती जा रहीं
***

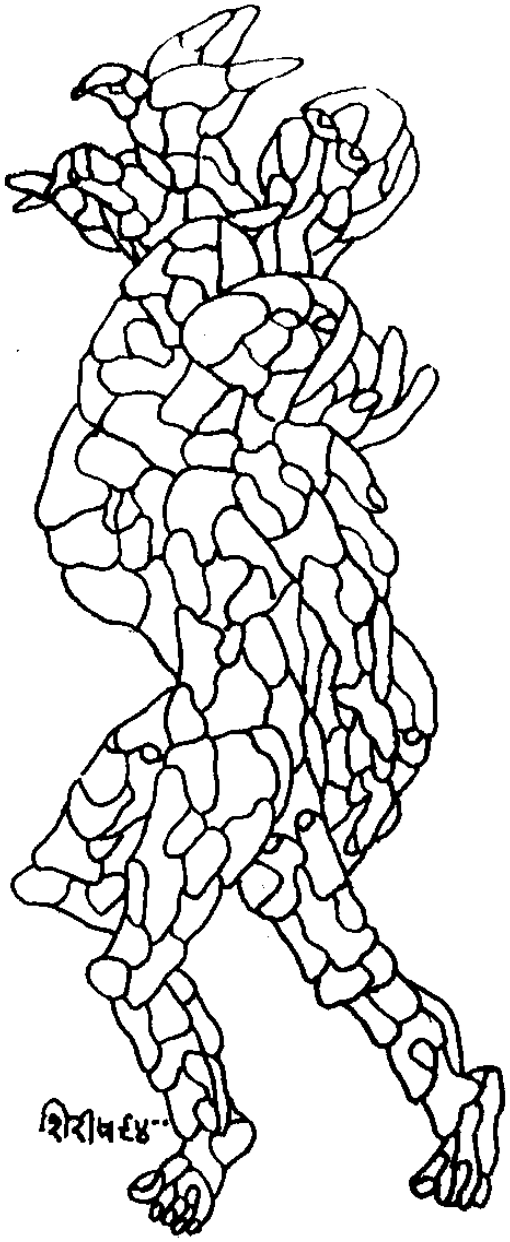

सहूलियात के विरुद्ध अदावतों के इलाक़ों में - विष्णु खरे

कुमार अम्बुज

विष्णु खरे की दूसरी पुण्यतिथि है। किसी भी दौर में भाषा और समाज की कविता समग्रता में केवल एक कवि की ऊर्जा से संचालित नहीं होती, वह कई सहयात्रियों की यात्रा है, लेकिन कहना ही होगा कि विष्णु खरे के बिना हमारी हिन्दी का कविता का संसार कुछ बेरंग हुआ है। कहते हैं कविता पूरा जीवन माँगती है, विष्णु खरे ने यह उसे दिया। वे लगभग पूरा जीवन हिन्दी की चंद सहज उपलब्ध सहूलियात के विरुद्ध अपनी ही चुनी हुई कुछ अदावतों के इलाक़ों में बसे रहे। उन्होंने सदा ही हिन्दी कविता की भीतरी राजनीति और उठापटक में एक पलीता लगाए रखा, वे जब चाहते विस्फोट कर देते। उनके जाने के बाद से ही उन्हें लेकर हिन्दी में अच्छी-ख़ासी हलचलें हैं। लोग उन्हें अच्छे-बुरे में याद करना नहीं भूलते। अभी युवा कवि और रंगकर्मी व्योमेश शुक्ल उन पर एक किताब लिख रहे हैं, जिसके कुछ शानदार अंश हमने फेसबुक पर पढ़े हैं। आज वरिष्ठ कवि कुमार अम्बुज ने चंद्रकांत पाटील के सौजन्य से अरुण काले की एक कविता का अनुवाद अनुनाद को सौंपा है। अनुवाद के पीछे एक प्रसंग है, जो विष्णु खरे के स्वभाव के एक दिलचस्प पहलू को खोलता है। जिस जगह, जिस परिस्थिति और जिस कार्यक्रम में जैसी कविता मंच पर एक अनन्त ऊब में बैठे-बैठे उन्होंने अनुवाद के लिए चुनी, उसमें हमारे समाज और कविता के वे खोखल मौजूद हैं, जिनमें मुँह डालकर बोलते हुए विद्वज्जन अकसर ही बहुत अश्लील सुनाई देते हैं।

हम यह प्रसंग और अनुवाद कुमार अम्बुज के प्रति कृतज्ञ होते हुए अपने पाठकों के साथ साझा कर रहे हैं।

- शिरीष मौर्य

अनुवादक विष्णु खरे

यशस्वी कवि विष्णु खरे का अनुवादक रूप ध्यातव्य रहा है। उन्होंनेशिंबोर्स्का, मिवोश, अत्तिलायोझेफ़, मक्लश राद्नोती सहित दर्ज़न भर कवियों की कविताओं के पुस्तकाकार अनुवाद किए हैं। कालेवाला महाकाव्य का छांदिक अनुवाद संभव किया और फ़िनलैंड में सम्मानित हुए। उनके द्वारा अनूदित कविताएँ काव्याशय की श्रेष्ठता और गुणवत्ता के लिए भी याद की जाती हैं। उनके अनुवादक पर तो विस्तार से पृथक बातचीत हो सकती है।

बहरहाल, उनके यहाँ एक आशु अनुवादक होने का छोटा-सा रोचक प्रसंग है। यह प्रसंग मराठी के मूर्धन्य कवि, आलोचक, अनुवादक और विष्णु जी के अनन्य मित्र श्री चंद्रकांत पाटील के सौजन्य से प्राप्त हुआ है।

अगस्त 2008 में मराठी के चर्चित आदिवासी कवि भुजंग मेश्राम के कविता संग्रह 'अबूझमाड़' और ख्यात दलित कवि अरुण काले के कविता संग्रह 'ग्लोबलचे गाँवकुस', इन दो मराठी कविता संग्रहों के शामिल विमोचन कार्यक्रम की अध्यक्षता विष्णु खरे कर रहे थे। लोकवांग्डमय प्रकाशन, मुंबई के इस आयोजन में विमोचन भी विष्णु जी को ही संपन्न करना था। मंच पर उनके एकदम करीब मुख्य वक्ता की भूमिका में चंद्रकांत पाटील भी बैठे थे, जिन्होंने भुजंग मेश्राम का संग्रह संयोजित और संपादित किया था।

अरुण काले की एक कविता का विष्णु खरे ने, किसी अंतराल में मंचीय ऊब से निजात पाने के लिए, वहीं बैठे-बैठे तत्काल, मराठी से हिंदी में अनुवाद किया और बग़लगीर चंद्रकांत पाटील जी को थमा दिया कि अब तुम्हें इसका जो करना हो करो। यह अनुवाद का काग़ज़ पाटील जी के पास किताबों में दबा रह गया और उन्हें संयोगवश अभी बरामद हुआ। विष्णु खरे की हस्तलिपि में होने से भी इस अनुवाद का अपना एक महत्व है।

आज विष्णु खरे जी की दूसरी पुण्यतिथि पर इसे देखना, पढ़ना उनकी स्मृति के इस रूप को भी ताज़ा कर सकता है।

-कुमार अम्बुज

मैं गया था रिलेशन बनाने

(अरुण काले की कविता : अनुवाद -विष्णु खरे)

स्टेशन पर जीप भिजवाई थी
ड्राइवर हाथ में नामवाला गत्ता लिए खड़ा था
पहचान बतलाते ही लपककर उसने बैग लिया
सफ़र में कोई परेशानी तो नहीं हुई ?

मैंने सिर्फ़ उसका नाम पूछा
वैसी प्रथा ही है
प्रांगण में जगमग सूटबूटधारी कार्यकर्ता
गुलदस्ता देकर मुस्कराते हुए

स्वागत है बोले
फ़्रैश हो जाइए! वॉश लीजिए!
मैंने कहा : बाथ ही लिए लेता हूँ

साबुन, बाथरूम व तौलिए का थोड़ा ही इस्तेमाल किया
जैसे फोटो खींची जा रही हो, रिस्क क्यों लेना
चाय आधी बिना पिये ही रख दी
रूम सर्विस को थैंक्स कहा
शक्कर के प्रति अरुचि प्रदर्शित की

चिंतन, मनन और आराम के वक़्त
झपकी लग गई, समय कम पड़ गया

छोटे पॉश हॉल में कार्यक्रम का शुभारंभ हुआ

एनजीओ की ओर से स्वागत किया गया
आज का कार्यक्रम दलित कवि के लिए निश्चित था
और आपको यह लाभ उपलब्ध हुआ

ज़ोरदार कविताएँ सुनाईं
ग्रेट! ग्रेट! अरे ग्रेट!
कवितापाठ समाप्त हुआ
तालियाँ बजाते हुए रसिकजन उठे
महिलाओं ने मेरी पत्नी के बारे में पूछा

सबने खटाखट गिलास उठाए
मेरे लोग इसीलिए बदनाम हैं
मेरे लिए छोटा ही बनाइएगा, हाँ!
दौर शुरू हुआ बीच-बीच में मेरी ओर ध्यान
फिर अपनी गपशप

अपनी तो लिमिट हो गई, अध्यक्ष ने डिनर का कॉल दिया

सब एकाग्रता से भोजन पर जुट गए
भुक्खड़पना न दिखाते हुए छोटे छोटे चार पीस खाए
नैपकिन से ओंठ पोंछे

बिज़ी शेड्यूल है, सॉरी!
हाथ में लिफ़ाफ़ा देकर आभार माना
खाली पेट रात में नींद आई नहीं

सुबह रूम सर्विस ने कहा, 'जल्दी करो!'
चैक आउट टाइम नौ बजे का है
चाहिए तो ऑटो रिक्शा लाके देंगे
****
(मूल मराठी से विष्णु खरे द्वारा 27 अगस्त 2008 को अनूदित)

तब केवल उम्मीदों में होते हैं बीज और बारिश

राकेश मिश्र की कविताएँ

राकेश मिश्र जी की कविताओं में गाँव है, वहां की पगडंडी है, प्रकृति है, प्रेम है, आम आदमी और मेहनतकशों के प्रति गहरी संवेदना है। कवि के पास जीवन के सौंदर्य को देखने परखने का एक ख़ास नजरिया है. बहुत ही सहज सरल और जनतांत्रिक भाषा है. वह बिना किसी लाग-लपेट के बहुत समर्थ काव्य भाषा में लगातार कविताएँ रच रहे हैं. उनकी छोटी-छोटी काव्य पंक्तियाँ भी बहुत सहजता से पाठकों को प्रभावित करती हैं. जैसे वह लिखते हैं 'प्रेम में शब्द ही / असगुन हैं / चुप ही / शुभ-यात्रा'.

इन कविताओं में एक तरफ नवम्बर की हल्की ठंड जैसी कोमल भावों की कविताएं हैं, दूसरी तरफ उस आखिरी आदमी की चिंता है, जिसका जीवन दो वक्त की रोटी के संघर्षों में बीत रहा है. 'जब कोई गरीब / सोचकर अपना भविष्य / उदास हो / तो बेचैन होनी चाहिए / तुम्हारी नींद' आम आदमी की जद्दोजहद और उससे उपजी बेचैनी उनकी कविताओं में बार-बार आती है.

उनके यहाँ जीवन की उदासी के बीच उमंग भी कम नहीं है. वह अँधेरे के बीच भी कोई रोशनी खोज लाते हैं . हताशा-निराशा के बीच भी वह थोड़ी सी उम्मीद बचा लेते हैं.. उम्मीद की यह किरण इन कविताओं में तो है ही, उनके कविता संग्रहों की अन्य कविताओं से गुजरते हुए भी जगह-जगह दिखाई देती है।

इन कविताओं का मंतव्य बहुत स्पष्ट है. इन्हें पढ़ते हुए एक रचनाकार की आन्तरिक बेचैनी को लगातार महसूस किया जा सकता है.

- संदीप तिवारी
(युवा कवि)

भाव

भाव
मंदिरों में मूर्ति बनकर
भगवान हो गये

भाव
दुर्गम राहों पर चलकर
तीर्थ बन गये

भाव
घर से निकल कर
बुद्ध बन गये

भाव
प्रार्थना में रहकर
चिड़ियों के गीत बन गये।

हड्डियों के पुल

पहले
रूप ही गलता है
समय की पतीली में
हडियों के पुल तो
सदियाँ गुजरने का
इंतज़ार करते हैं ।

दाढ़ी

रोज
बढ़ जाते हैं
वृक्षों की कोपलें,
घास की फुनगियाँ,
उत्तर का पहाड़
और
मेरी दाढ़ी

मेरा शेव करना
रोज़
गहरा कर देता है
मेरा विश्वास कि
मैं जीवित हूँ ।

तुम्हारा जाना

तुम्हारा
चले जाना
अचानक ही
निःसंकेत
वही खुशबू का गलियारा था
हवा की परतों में
थोड़ी देर तक
धूल वैसी ही रही
निःशब्द श्वेताकार
थोड़ी देर तक
मैं लौटना चाहता था
पर नहीं खुले
स्मृति-रन्ध्र
मैं खड़ा ही रहा !

प्रेम

अचर्चित प्रेम ही
जीता है
जन्म जन्मान्तर
प्रेम की चर्चा से
अकाल मरते हैं
प्रेमी
प्रेम में शब्द ही
असगुन हैं
चुप ही
शुभ-यात्रा है
प्रेम की ।

जीना

जब कोई गरीब
पसीने से लथपथ
नृत्य करे
तो थिरकने चाहिए
तुम्हारे पाँव
जब कोई गरीब
सोचकर अपना भविष्य
उदास हो
तो बेचैन होनी चाहिए
तुम्हारी नींद
जब कोई गरीब
सो गया हो खाली पेट
आज रात
तो मर जानी चाहिए
तुम्हारी भूख
तभी जी सकोगे तुम
औरों के संग ।

नवम्बर में

नवम्बर में
जल्दी आने लगती हैं
शामें
चने और मटर के बीज
मिट्टी में
अंकुरित होने को होते हैं
गन्ने में शेष होती है
मिठास की आमद
नवम्बर की उन्हीं शामों में
खिलखिला कर हँस पड़ती हैं
खेतों से घर लौटती
लड़कियाँ
उनकी हँसी की खिड़कियों से
आहिस्ता दाखिल होती है

गुलाबी सर्दी
बालिश्त भर रोज़
लम्बी होती रातों में
उचटी नींदों वाले
लालटेन की मद्धिम रोशनी के सहारे
दीवाल की मिट्टी से
गड़े हुए आइनों में
अपनी रेखें निहारते लड़कों के
सपनों में बस जाती हैं
लड़कियों की समवेत खिलखिलाहट
गाँव का सूरज प्रतीक्षा करता है
हर सुबह
लड़कों के नींद से उठने की
मिलन और सम्भावनाओं के
गीत होते हैं
नवम्बर के दिन
गाँव के लड़कों की
क्या दिन क्या रातें
सब गुलाबी हो जाते हैं
नवम्बर में ।

कई बार

कई बार
रंग होता है
रूप होता है
आत्मा नहीं होती
प्रेम होता है
देह होती है
प्रेमी नहीं होते
भाव होता है
शब्द होते हैं
अर्थ नहीं होता
बात होती है
विचार होते हैं
निष्कर्ष नहीं होता
मैं होता हूँ
तुम होती हो
जिन्दगी नहीं होती
पद होता है
प्रतिष्ठा होती है
निष्ठा नहीं होती
देश होता है
राजा होते हैं
शान्ति नहीं होती ।
कई बार

रास्ते

सपनों में
नहीं पूरते रास्ते
मैं चलता रहता हूँ
रास्ते में पूछता हूँ
किसी अनजान अपने जैसे से
अपने गाँव का सही रास्ता
वह बताता है
मेरे गाँव पाँच सड़कें जाती हैं
सभी चौड़े राजमार्ग हैं
चलते रहो
मुझे केवल बियाबान दीखते हैं
मैं चलता रहता हूँ
जहाँ तक देख सकता हूँ
बियाबानों से सड़के गुजर रही हैं
कोई शहर नहीं
दूध जलेबी नहीं
प्यास से जाग जाता हूँ
पानी पीकर सोता हूँ
इस बार कोई नई सड़क है
मेरे गाँव जाने के लिए
फिर पूछता हूँ

किसी अनजान अपने जैसे से
क्या मेरे गाँव की यही सड़क है
वह कहता है
तुम्हारे गाँव की पाँच सड़कें हैं
सभी नापनी होगी तुम्हें
तभी पहुँचोगे गाँव
मेरा स्वप्न टूट जाता है ।

हत्यारे

मैं चला जा रहा था
अकेला
अचानक ही मैं
एक भीड़ से गुजरा
जैसे विमान उड़ता हुआ
बादलों के विक्षोभ से गुजरता है
दबाव था
पर रास्ता नहीं बदलना पड़ा
मैं चुपचाप निकल गया
बीच से
फिर कुछ दूर जाकर
कहकहों की आवाजे सुनीं
मैंने खुद को देखा
मेरे कई अंग गायब थे
जगह-जगह रक्त रिसने लगा था
मेरी देह से
मैं समझ नहीं सका था
कि मैं हत्यारों की
नई नस्ल से गुजरा था
जो खत्म नहीं करती
वजूद
केवल छीन लेती है जरूरी चीजें।

जो निराशा

जो निराशा
पीड़ा
सुख है
अभी है
फिर कभी नहीं है
मैं कुछ नहीं करता
जब कुछ भी नहीं हो रहा होता है
जुते खेतों में
खुली होती है
धरती की कोख
तब केवल उम्मीदों में होते हैं
बीज और बारिश
गर्म होती है
मिट्टी की देह
मिट्टी में घुलती वर्षा बूँदे
फैल जाती हैं
मिट्टी की गंध शिराओं में
तारे देख रहे होते हैं
मिट्टी की तैयारी
जब लहलहा उठेगी
धरती
तब एक घनी गहरी
उब से उठकर
मैं भी पड़ा होऊँगा
मिट्टी में
पूरी जीवंतता के साथ ।

तेरा-मेरा

तेरा मेरा
रूप अलग है
सुख एक है
तेरा मेरा
कारण अलग है
दुःख एक है
तेरे मेरे
शहर अलग हैं

इन्तजार एक है
तेरी मेरी
आँखे अलग है
दृश्य एक है
तेरा मेरा
चेहरा अलग है
भाव एक है
तेरी मेरी
कारा अलग है
अपराध एक है

कविता किताबें

रखो
कुछ कविता - किताबें
घर में
हर रोज आयेंगे
तुमसे मिलने
कुछ शब्द, कुछ सपने
कुछ रंग, कुछ रास्ते
कुछ बादल, कुछ पंक्षी
हर रोज आयेंगे !

महानगर

इन्हीं भव्य इमारतों में
जिन्दा दफन है
पहाड़ का अंतस
नदी की आत्मा
वृक्षों का बसन्त
और
मजदूर की दिहाड़ी ।

अंधेरे की कविता

बासी खाना भी
किसी न किसी की
भूख मिटाता है
सड़ा मांस भी
कोई न कोई
खा जाता है
अंधेरों का इन्तजार
कईयों को रहता है
अंधेरा
किसी न किसी को
खाता है
रोशनी के झरोखे
हर ओर हों
जरूरी नहीं
अंधेरा
अपनी जगह ही
आता है ।
***

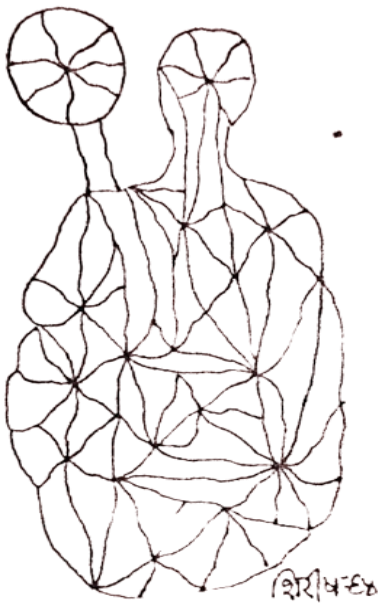

पाब्लो नेरूदा और बेंजामिन प्रादो की कविताएँ - मूल स्पैनिश से अनुवा

मंजू यादव

मंजू यादव हैदराबाद में विदेशी भाषा विश्वविद्यालय से स्पैनिश में परास्नातक कर रही हैं। अनुनाद ने उनसे स्पैनिश मूल से कुछ अनुवाद माँगे थे, जिसके जवाब में बेंजामिन प्रादो की एक और पाब्लो नेरूदा की दो कविताएँ मंजू ने उपलब्ध करायी हैं। हमारा यह मानना है कि समर्थ और कुशल युवा अनुवादकों की उपस्थिति हिन्दी की समृद्धि के लिए आवश्यक है। अनुनाद मंजू यादव का स्वागत करता है और आशा करता है कि भविष्य में वे अवश्य ही कोई विस्तृत और एकाग्र कार्य इस क्षेत्र में करेंगी। मंजू संभावनाशील कवि हैं, शीघ्र ही उनकी कुछ कविताएँ अनुनाद पर पढ़ी जा सकेंगी।

पाब्लो नेरूदा की दो प्रेम कविताएँ

1.

अगर मैं मर जाऊँ, मुझे जीवित रखना एक पवित्र ऊर्जा की तरह

जो जगा सके ठण्ड और दर्द के आवेश को

प्रकाशित करो अपनी अमिट आँखों को, दक्षिण से दक्षिण तक,

सूर्य से सूर्य तक
जब तक कि तुम्हारा मुख, झनक ना उठे
सितार की तरह। ।

मैं नहीं चाहता कि तुम्हारी मुस्कराहटें और क़दम डगमगाए,

मैं नहीं चाहता कि मेरी ख़ुशियों की जागीर ख़त्म हो जाए

मेरे सीने में आवाज़ ना दो, मैं वहां नहीं हूँ,

मेरी अनुपस्थिति में तुम उसी तरह जीना, जैसे एक घर में जिया जाये। ।

अनुपस्थिति कितना बड़ा घर है ना

कि तुम दीवारों को पकड़ कर घूमोगी

और तस्वीरों को पारदर्शी हवाओं में टाँगोगी।

अनुपस्थिति कितना पारदर्शी घर है ना,

मरकर भी मैं तुम्हारा जीना देखूंगा ,

और अगर तुम तकलीफ में होगी, मैं एक बार फिर मर जाऊंगा। ।

Si muero sobrevíveme con tanta fuerza pura que despiertes la furia del pálido y del frío,

de sur a sur levanta tus ojos indelebles,

de sol a sol que suene tu boca de guitarra.

No quiero que vacilen tu risa ni tus pasos,

no quiero que se muera mi herencia de alegría, no llames a mi pecho, estoy ausente.

Vive en mi ausencia como en una casa.

Es una casa tan grande la ausencia que pasarás en ella a través de los muros y colgarás los cuadros en el aire.

Es una casa tan transparente la ausencia que yo sin vida te veré vivir y si sufres, mi amor, me moriré otra vez.

2.

"मेरे साथ चलोगे " कहा मैंने - बिना किसी को भनक लगे,

कहाँ और कैसे मेरे दर्द भरे हालात जाग गए।

और मेरे लिए कोई गुलनार, कोई विरह गीत ना हुए ,

कुछ नहीं, सिवाय एक ज़ख़्म के जो प्रेम ने उघेड़ दिया।
दोबारा सुनो; चलो मेरे साथ , जैसे कि मैं मृत्यु के करीब होऊंगा ,

पर किसी ने मेरे मुँह में झांककर चाँद ना देखा जो लहूलुहान था ,

ना किसी ने वह रक्त देखा जो ख़ामोशियों में उपजा था ,

ओह प्रेम ; अब हम भुला देंगे उस सितारे को जिसमे कांटे उग आए।

और इसलिए , जब मैंने सुना तुम्हारी आवाज़ को दोहराते हुए ,

"मेरे साथ चलोगे" लगा तुमने ढीले कर दिए मेरे बंधन

दर्द, प्यार और रोष छूटा हो ज्यूँ ढक्कन बंद शराब की बोतल का।

कि जैसे लावा फूटा हो ज्वालामुखी के अंतर्मुख से ,

और एक बार फिर मैंने अपने मुख में, महसूस किया आग के स्वाद को

लहू को और लाल फूलों को ,

पत्थरों को और ज्वलनशीलता को।

_____

y para mí no había clavel ni barcarola,
nada sino una herida por el amor abierta.

Repetí: ven conmigo, como si me muriera,

y nadie vio en mi boca la luna que sangraba,

nadie vio aquella sangre que subía al silencio.

Oh amor ahora olvidemos la estrella con espinas!

Por eso cuando oí que tu voz repetía

"Vendrás conmigo" -fue como si desataras

dolor, amor, la furia del vino encarcelado
que desde su bodega sumergida subiera

y otra vez en mi boca sentí un sabor de llama,

de sangre y de claveles, de piedra y quemadura.

_____

_____

बेन्जामिन प्रादो की कविता

कभी देर नहीं होती

कभी देर नहीं होती ज़ीरो से शुरु करने के लिए,

जहाज़ों को जलाने के लिए,

कि कोई आके तुम्हें बताए :

-मैं या तो तुम्हारे साथ हो सकता हूं या अपने खिलाफ़

कभी देर नहीं होती बेड़ियों को काटने के लिये,

ख़ुशियों के अंतर्नाद के तरफ़ लौट जाने के लिए,

उस पानी को पीने के लिए कि जिसे तुम पी ना सके थे

कभी देर नहीं होती सबसे बंधन तोड़ने के लिए

और जो अपने इतिहास को अपना ना सके,

एक ऐसा आदमी बनने की कोशिशों को छोड़ देने के लिए।

और संभवतः

यह ज्यादा आसान है

मारिया का आना,सर्दियों का खत्म होना, सूरज का उदय होना,

बर्फ़ का बड़े और विशाल युद्धों के आँसू रोना,

और अचानक दरवाज़ा दीवार का भ्रम नही देता,

और शान्ति जीवित आत्मा-सी नहीं रहती

और वो पिंजरा मेरी चाभियों से ना खुलता ना बंद होता है।

और इसीलिए आसान है ऐसी शांति से ये समझाना :- अभी भी देर नहीं हुई

और अपनी जीविका के लिये लिखने से पहले

अभी

मै जीना चाहता हूं

ये गाथा सबको सुनाने के लिए।

Nunca es tarde", Benjamín Prado

Nunca es tarde para empezar de cero,

para quemar los barcos,

para que alguien te diga:

-Yo sólo puedo estar contigo o contra mí.

Nunca es tarde para cortar la cuerda,

para volver a echar las campanas al vuelo,

para beber de ese agua que no ibas a beber.

Nunca es tarde para romper con todo,

para dejar de ser un hombre que no pueda

permitirse un pasado.
Y además

es tan fácil:

llega María, acaba el invierno, sale el sol,

la nieve llora lágrimas de gigante vencido

y de pronto la puerta no es un error del muro

y la calma no es cal viva en el alma

y mis llaves no cierran y abren una prisión.

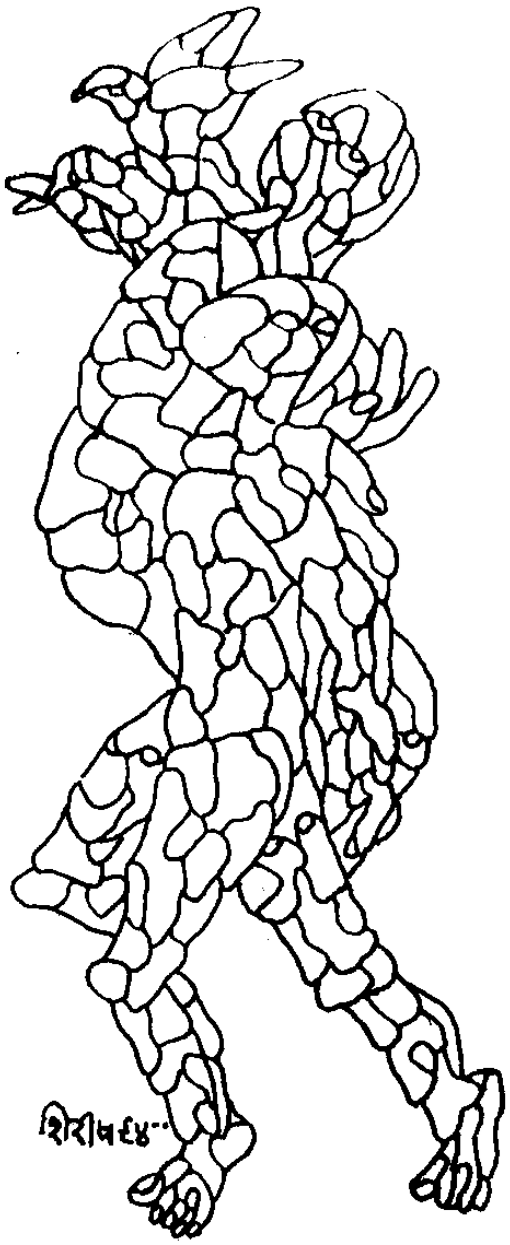

Es así, tan sencillo de explicar: -Ya no es tarde,

y si antes escribía para poder vivir,

ahora

quiero vivir
para contarlo.
***

बिंदु - बिंदु जल

सुलोचना वर्मा की कविताएँ

सुलोचना की कविता मनुष्यता को किनारों पर खड़ी पुकारती भर नहीं रहती, वह उस उत्सव और शोक में शामिल हो जाती है, जिसे समग्रता में हम साधारण मनुष्य का जीवन कहते हैं। वे विमर्शों की कवि नहीं हैं, न निजी अनुभवों के भाषिक चमत्कार हैं उनके यहाँ – वे सहज बोलती कविताओं की कवि हैं। गूढ़ वैचारिक संरचनाओं के द्वार उनकी कविता में ज़रूरी साक्ष्यों के सहारे जीवन में भीतर की ओर खुलते हैं। यहाँ छप रही कविताओं के लिए अनुनाद कवि को शुक्रिया कहता है।

लिखूंगी

मुझे माफ़ करना प्राण सखा,
नहीं लिख पाउंगी मैं कोई महान कविता !
मैं लिखूंगी विशाल पहाड़
तुम ठीक उस जगह झरने का संगीत सुनना |

मैं लिखूंगी अलौकिक सा कुछ, लिखूंगी छल और दुःख भी
मेरे अनुभवों में शामिल है दुधमुंहे शिशु के शरीर की गंध,
कई दिनों से प्रेमी के फ़ोन का इंतजार करती
प्रेम में डूबी प्रेमिका को देखा है मैंने
"सहेला रे" गाती हुए किशोरी अमोनकर को सुना है कई बार
देखा है बिन ब्याही माँ को प्रसव से ठीक पहले
अस्पताल के रजिस्टर पर बच्चे के बाप का नाम दर्ज़ करते
देखा है परमेश्वरी काका को बचपन में
छप्पड़ पर गमछे से तोता पकड़ते हुए
कोई और कैसे लिख पायेगा भला वो तमाम दास्ताँ !

बचपन में थी जो कविता मेरे पास,उसका रंग था सुगापंक्षी
उसकी आँखों में देखते ही होता था साक्षात्कार ईश्वर से
कविता कभी-कभी संत बनकर गुनगुनाने लगती -
"चित्रकूट के घाट पर भई संतन की भीड़....."
मेरी कविता का तेज था किसी सन्यासिनी की मानिंद
वह कर सकती थी तानसेन से भी जुगलबंदी
वह कर सकती थी वो तमाम बातें जिनके लिए
नहीं हैं मौज़ूद कोई भी शब्द अभिधान में
एक पिंजड़ा था जो सम्भालता था
स्मृतियों का ख़ज़ाना कई युगों का

मैं अब जो कविता लिखूंगी, क्या होगा उसका रंग?

क्या उगा सकेगी जंगल "हरा" लिखकर मेरी कविता?
क्या लौट आयेंगे ईश्वर, संत और विस्मृत स्मृतियाँ?
लौट आयेंगे प्रेमी प्रतीक्षारत प्रेमिकाओं के पास?
"मंगलयान" और "चंद्रयान" हैं इस युग की पुरस्कृत कवितायेँ!

हासिल हो स्वच्छ हवा और जल हमारी भावी पीढ़ी को
ऐसी कविताएँ अनाथ भटक रही हैं न जाने कब से !
मैं उन कविताओं को गोद लूंगी |
फिर मेरी कविताओं के आर्तनाद से तूफ़ान आ जाये,
आसमान टूट पड़े या बिजली गिर जाए,
उनका हाथ मैं कभी नहीं छोडूंगी |
मेरी कविताओं के संधर्ष से फिर उगेगा हरा रंग धरा पर
गायेगा मंगल गान सुगापंक्षी
तो धरती चीर कर निकल पड़ेगी फल्गु और सरस्वती!

मुझे माफ़ करना प्राण सखा,
नहीं लिख पाउंगी मैं कोई महान कविता !
मैं लिखूंगी रेत, और कविता पढ़कर करूंगी नदी का आह्वान
किसी आदिम पुरुष सा उस नदी किनारे तुम करना
मेरा इंतजार |

जल

जल से तरंग के अन्तर्ध्यान होते ही
क्षय होने लगती है आयु जीवों की
हृदय नहीं, वह जल का है कलकल संगीत
जो धड़कता है बायीं ओर वक्ष के
बिना जल के जलती है पृथ्वी
जब जल से पृथक होता है तरंग
और मनुष्य धरा के संगीत से
हुआ करता था धरा पर बहता हुआ
पृथ्वी का सुगम संगीत कभी
लगभग बेसुरी हो चुकी पृथ्वी पर जल
बोतलबंद व्यवसाय है इन दिनों

राग-विराग

उसने कहा प्रेम
मेरे कानों में घुला राग खमाज
जुगलबंदी समझा मेरे मन ने
जैसे बाँसुरी पर हरिप्रसाद चौरसिया
और संतूर पर शिवकुमार शर्मा

विरह के दिनों में
बैठी रही वातायन पर
बनकर क़ाज़ी नज़रूल इस्लाम की नायिका
सुना मैंने रहकर मौन राग मिश्र देश
गाते रहे अजय चक्रवर्ती "पिया पिया पिया पापिया पुकारे"

हमारे मिलन पर
शिराओं - उपशिराओं में बज उठा था मालकौंस
युगल स्वरों के परस्पर संवाद में
जैसे बिस्मिल्लाह खान बजाते थे शहनाई पर
और शुभ हुआ जाता था हर एक क्षण

लील लिया जीवन के दादरा और कहरवा को
वक़्त के धमार ताल ने
मिश्र रागों के आलाप पर
सुना मेरी लय को प्रलय शास्त्रीयता की पाबंद
आसपास की मेरी दुनिया ने

काश! इस पृथ्वी का हर प्राणी समझता संगीत की भाषा
और जानता कि बढ़ जाती है मधुरता किसी भी राग में

मिश्र के लगते ही, भले ही कम हो जाती हो उसकी शास्त्रीयता
और समझता कि लगभग बेसुरी होती जा रही इस धरा को
शास्त्रीयता से कहीं अधिक माधुर्य की है आवश्यकता |

नर्क

कहो सहेला, आओगे मेरी अंतिम यात्रा में ?
यह तो बताओ सहेला कि चिता की अग्नि
पहले जलाएगी मेरी पाँच गजी या मेरे बालों को
जिनमें उँगलियाँ उलझाने की बात करते थे तुम
और यह कार्य इतना कठिन था कि छोटा पड़ गया
दिन, महीना, साल, पञ्चांग का कोई भी शुभ मुहूर्त

चिता की आग मुझे कितना जला सकेगी सहेला ?
उतना, जितना तुम्हारे विषाद में जला है यह मन ?
या उतना, जितना जल जाने पर खत्म हो जाती है अनुभूति ?

जानते हो सहेला, हो चुकी अभ्यस्त तुम्हारे दिए गए नर्क में रहने की ऐसी
कि किसी प्रकार के स्वर्ग की कल्पना मात्र से ही हो उठती हूँ असहज
सविनय अवज्ञा कर दूँगी यदि यम देवता ने सुनाया स्वर्ग भेजने का फैसला
धरना दूँगी उस नर्क के द्वार पर और वहाँ से इस नर्क को करूँगी प्रणिपात !

यह बताओ सहेला, क्या उस नर्क में भी यातना देने वाले को प्रेमी ही कहते हैं?

चरित्रहीन

(शरतचंद्र की किरणमयी के लिए)

शरत बाबू ऐसे गए कि नहीं लौटे फिर कभी
पर लेती रही जन्म तुम किरणमयी रक्तबीज सी
दुनिया मनाती रही शरत जयंती बरस दर बरस
नहीं बता गए शरत बाबू तुम्हारा जन्मदिन संसार को
कि रहा आजन्म, जन्म लेना ही तुम्हारा सबसे बड़ा पाप
और इस महापाप का ही तुम करती आ रही हो पश्चाताप

अपने नयनों पर बनाकर पथरीला बाँध
रोका तुमने अजश्र बूँदो का समुद्री तूफ़ान
पास- परिवेश के पुरुषों का बन आसमान
छुपाती रही अपनी समस्त असंतुष्टियों को
स्निग्ध मुस्कान की तह में तुम घंटो चौबीस
पढ़ाकर उन्हें अपने ही दुर्भाग्य का हदीस !!!

दिखता है तुम्हारे होठों पर मुस्कान का खिला हुआ ब्रह्मकमल
जो बाँध लेता है अपनी माया से सबको, गहरे उतरने नहीं देता
अदृश्य ही रह जाता है मन की सतह पर जमा कीचड़ लोगों से
ठीक जैसा तुम चाहती हो अपनी लिखी कहानी की भूमिका में
परिस्थितियों के बन्दीगृह का तुम अक्सर टटोलती हो साँकल
गहन अन्धकार से नहा, पलकों पर लेती सजा, बिंदु - बिंदु जल

निज को उजाड़ कर बसने देती हो पति का अहंकार घर
रखती हो शुभचिंतकों को खुश अपनी अभिनय क्षमता से
सजाती हो सामाजिक आडम्बर से अपना प्रेमहीन संसार

तुम्हारा असंदिग्ध भोलापन ही तो है सबसे बड़ी
बीमारी
कभी आईनाख़ाने जाकर देखो अपने होठों की उजासी
हाँ, है तो फूलों सी ही बिलकुल, मगर वह फूल है
बासी

देखो उन मधुमक्खियों को, जो कर रही हैं चट
छत्ते पर बैठ खुद अपना ही शहद संग्रह झटपट
कि उन्हें पता है वो रहती हैं भालुओं के परिवेश में
कब तक उड़ाती फिरोगी सपनों को सन्यासिनी के भेष
में
न करो फ़िक्र जमाने की, बाँध लो चाहनाओं को
अपने केश में
क्या हुआ जो होना स्वतंत्र स्त्रियों का, है होना
चरित्रहीन इस देश में

अपने होठों पर फूलों की उजास नहीं, सूरज की
किरण उगाओ
सुनो समय की धुन लगाकर कान समयपुरुष के सीने
से किरणमयी
बिखरो नहीं, गढ़ लो खुद को फिर एकबार अपने
पसंद के तरीके से
मत जिओ औरों की शर्त पर और, रखना सीख लो
तुम शर्त अब अपने
सुनती आई तो हो जमाने से जमाने की, सुनो अब
केवल अपना ही कहना
अपनी पुण्य आत्मा को कष्ट देने से तो है बेहतर तुम
चरित्रहीन ही बनी रहना

***

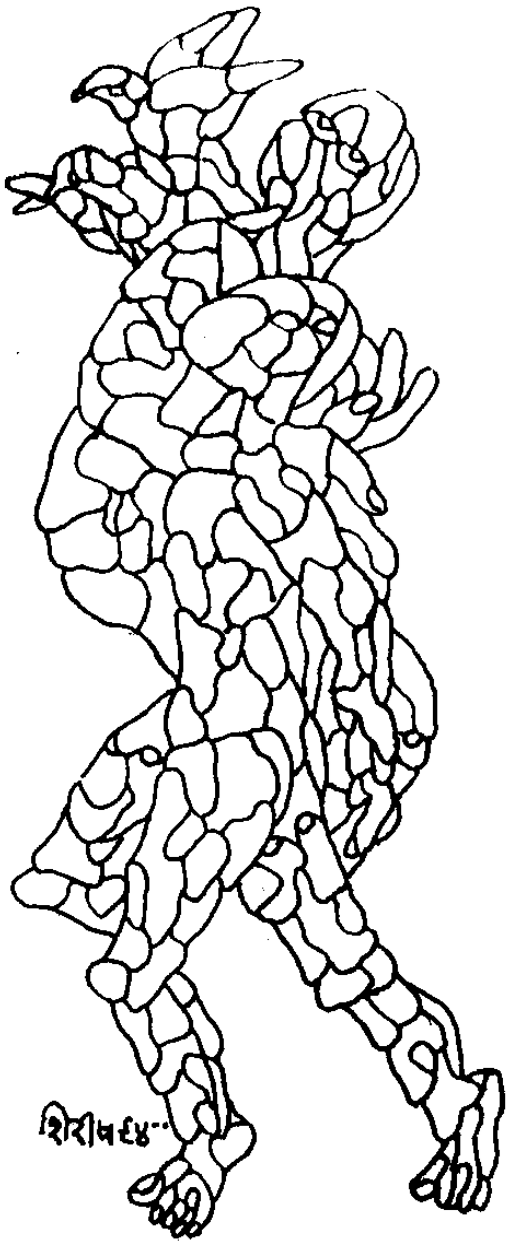

कब नहीं रोया है पहाड़

खेमकरण 'सोमन' की कविताएँ

कवि ने कहा

मुझे लगता है कि जब चोर, संभ्रांत और सिपाही की भाषा बोलने लग जाए या संभ्रांत और सिपाही, चोर की भाषा बोलने लग जाए। तब दुनिया बिगड़ने लगती है। कोई आदमी बीच सड़क पर किसी को लूट रहा हो या कर रहा हो अभद्रता की स्थापना। तब दुनिया बिगड़ने लगती है। बस-कॉलेज में बैठी हुई लड़की, अपनी ओर घूरती आँखों से त्रस्त हो। कोई मांस-मछली के नाम पर दंगे भड़का रहा हो, तब भी दुनिया बिगड़ने लगती है। ऐसा काम जो समाज को पीछे ले जाए, उन सबसे दुनिया बिगड़ने लगती है। ऐसी सभी प्रकार की समस्याओं से लड़ने के लिए एकमात्र हथियार है प्रतिरोध। यह प्रतिरोध, भाषा या मनुष्यों के प्रति नहीं अपितु गलत कार्यों के प्रति है! अतः मेरी कविताओं का तीसरा मुख्य शब्द है-प्रतिरोध।

व्यक्ति नदी के पास जाता है तो यह व्यक्ति की संवेदना है। नदी उसे जीभर पानी पिलाकर, नहला-धुलाकर तर कर देती है, यह नदी की संवेदना है। चिड़िया पेड़ों पर घोसला बनाना चाह रही हैं, यह चिड़ियों की संवेदना है, और पेड़ भी सहर्ष शाखाएँ प्रदान कर उनका स्वागत कर रहे हैं यह पेड़ों की संवेदना है। एक व्यक्ति नहीं कहता है कि उसके हाथ खाली हैं या कुछ समस्याग्रस्त है वह, लेकिन उसकी आँखें सब कुछ स्पष्ट कर देती हैं। यह उसकी आँखों में देखने वाले व्यक्ति की संवेदना है। इस प्रकार संवेदना व्यक्ति, वस्तु और समाज को जोड़ने का कार्य करती है, अतः मेरी कविताओं का दूसरा मुख्य शब्द है-संवेदना।

धूप करोड़ों किलोमीटर की यात्रा करके धरती पर पहुँचती है। वर्तमान में आदमी भी हर जगह पहुँचा हुआ है। एक आदमी कई वर्षों बाद अचानक जीवित होकर विभिन्न मुद्दों पर बोलने लगता है। तो दिखता है कि जीवित व्यक्ति ही जीवित संस्कृति का गढ़ और संवाहक होता है, क्योंकि उसके पास विचार है। मेरी दृष्टि में विचार किसी को आक्रांत नहीं अपितु मजबूत और विकसित करता है। अतः मेरी कविताओं का पहला मुख्य शब्द है-विचार।

इस प्रकार विचार, संवेदना और प्रतिरोध की कविताएँ मुझे पसन्द हैं। ये तीनों शब्द लोक और विश्व इतिहास के मूल हैं। इनके बिना दर्शन, कला, साहित्य, संस्कृति, इतिहास, राजनीति, आलोचना और जीवन सब अधूरे और बेकार हैं। इनसे किसी के भी मन की जाँच-पड़ताल की जा सकती है। मानव-प्रकृति और विज्ञान की तह तक पहुँचा जा सकता है। कहने का आशय है कि इन्हीं में और इन्हीं से सारे भाव हैं। अतः एक छोटे लिख्वाड़ के रूप में इन मित्र शब्दों के माध्यम से विसंगतियों व उज्ज्वल पक्षों की जकड़न-पकड़न ही मैं अपना सामाजिक-सांस्कृतिक दायित्व-कर्म समझता हूँ। अपनी कविताओं द्वारा शोर-शराबा युक्त नैतिक बोध, दयनीय सीख और उपदेश आदि देकर मैं नेताओं और धर्मगुरूओं के कार्य छीनना नहीं चाहता। निष्कर्ष रूप में यही कि कविता मुझे निरन्तर यह अनुभूति कराती है कि मैं चाल-चालाकी वाला हानिकारक व्यक्ति नहीं अपितु दस-बीस लोग मुझ पर विश्वास कर सके, ऐसा व्यक्ति बनूँ।

अन्ततः

कीमतें की जा सकती थीं

कम

या

कम की जा सकती थीं

लोगों की जानें

अन्ततः

लोगों की जानें ही कम हुईं!

कब नहीं रोया है पहाड़

पहाड़ पर कब नहीं

कहर ढाती हैं प्राकृतिक आपदाएँ

कब नहीं टूटते हैं मकान

कब नहीं बहते हैं आशियाना

कब नहीं पहाड़ की स्त्रियाँ डर के वजूद में

भूल जाती हैं गीत गाना

कब नहीं मरते हैं बच्चे बूढ़े और जवान

कब नहीं धँसता है पहाड़,
पहाड़ पर
कब नहीं नदियों में बहती हुई लाशें

अटक कर दिख जाती हैं किसी पर्यटक को

या स्थानीय जन को

कब नहीं रोता है पहाड़

रोते हैं पहाड़वासी

कब नहीं मिला है एक हजार करोड़ रूपये

दो हजार करोड़ रूपये

या कब नहीं मिला है पहाड़ के लिए अरबों-खरबों रूपये

फिर कब नहीं हुआ पहाड़ की खुशहाली के लिए हवन

और गबन

कब नहीं रोया है पहाड़

कब नहीं पहाड़ के रोने पर

कर्ता- धर्ताओं को मिला है अवसर

ब्रेक-फास्ट लंच और डिनर का

कब नहीं ?

लग रहा है तुम्हें कैसा

बताओ

लग रहा है तुम्हें कैसा

पिताजी पूछ बैठे पिंजरे में बंद चिड़िया से

जबकि पूछना चाहिए था उनको उनसे

खुले आसमानों में उड़ते हैं जो
चिड़िया कुछ देर तक चुप रही

फिर बोली-अपनी बेटी से पूछ लीजिए

बेटी मुरझाई हुई थी

पिता जी दौड़ पड़े

खोल दिया तुरन्त पिंजरा

फिर

इधर चिड़िया उड़ी आसमान में

और उधर बेटी।

बचाकर रखना कुछ उम्मीदें

बचाकर रखना अपना विश्वास

ताकि विश्वास खोया हुआ आदमी समझ सके

विश्वास खोने का अर्थ
बचाकर रखना कुछ उम्मीदें

ताकि दुनिया को खूबसूरत बनाने की उम्मीदें

कभी खत्म न हों

बचाकर रखना अपनी बातें

ताकि बात कर सको तुम उदास लोगों से

मेरे दोस्त!

विश्वास, उम्मीद और बात खोने से

खो देता है आदमी भी

खुद को।

वे अर्थ बन गए

मधुमक्खी

खोज रही थी उनको

वे फूल बन गए

पानी

खोज रहा थी उनको

वे ढलान बन गए
समतल बन गए

चिट्ठी

खोज रही थी उनको

वे पता बन गए

बीज

खोज रहा था उनको

वे मिट्टी बन गए

चिड़िया

खोज रही थी उनको

वे पेड़ बन गए

आसमान बन गए

शब्द

खोज रहे थे उनको

वे अर्थ बन गए

वे नहीं बने कभी भी

सिर्फ खाने-पीने सोने और हगने वाले व्यक्ति।

किसी के भी शब्दकोश में

एक जगह हिरणी बैठी हुई थी

ठीक उसकी बगल में बैठा हुआ था हिरण भी

दोनों देख रहे थे दूर कहीं

दूर कहीं

घास के मैदान में एक बकरी भी मुस्कुरा रही थी

बकरे ने भी आकर उसका इन्तजार खत्म किया

इन्तजार जब खत्म हुआ

एक दूसरे को चूमने लगे बाघ-बाघिन

बनाने लगे भविष्य की कोई खूबसूरत योजना

खूबसूरत योजना को अपने दिमाग में रखकर

एक बैल ने गाय को देखा और कहा-प्रिय

बहुत पसन्द हो तुम मुझे

क्या मेरे बछड़े की माँ बनना स्वीकार करोगी?

स्वीकार करोगी जरूर तुम

ऐसा सोचते हुए विनम्रता से नाग ने देखा नागिन को नागिन ने भी महसूस किया वे बन सकते हैं सुख-दुख के साथी

फिर लिपटे रहे न जाने कितने घंटों तक

उस दिन उन दोनों ने जीभर प्यार किया

जी भर प्यार करने की इच्छा से सरोबार

मोर ने अपने नाच से प्रभावित कर दिया मोरनी को

फिर मोर भी प्रफुल्लित हुआ

उसने जिन्दगी में आने के लिए मोरनी का आभार व्यक्त किया

आभार व्यक्त किया चिड़े ने भी चिड़िया का

जब दोनों ने एक-दूसरे चुना फिर मगन हो गए प्यार करने में

फिर दोनों ने घोंसला भी बनाया

एक बड़े छायादार पेड़ पर

एक बड़े छायादार पेड़ पर दृष्टि जमाए

धरती बिछी हुई थी आसमान के लिए

आसमान भी निहार रहा था –

अद्भुत सौन्दर्य धरती का

इतना सब कुछ हो रहा था पर

नहीं था किसी के दिल-दिमाग में

या किसी के शब्दकोश में 'बलात्कार'

शब्द।

महसूसता है वह अभी भी

कहना था केवल हाँ ही तो

यह कहते ही बदल गई जिन्दगी भी

बह निकली फिर

पंच अमृत की धार घर में

देर-सवेर ही

कर लिया था समझौता उसने

और

नाम आया बच्चों का कि बच्चों का चेहरा देख

देख बच्चों की भूख-प्यास और भविष्य की उठा-पटक

देख पत्नी की आँखों में उगे सपने

और अनन्त आकाश सा दुःख
जीवन में अब उसके

बहुत सारे रंग हैं खुशियों के लेकिन

महसूसता है वह अभी भी

हर दिशा से खुद को

हारा हुआ ही।

मैं नहीं मिलता किसी से

मेरा विश्वास

अब विश्वास त्याग चुका है

मेरे व्यवहार की धुनें अब

कर्णप्रिय नहीं रहीं

सहयोग

असहयोग में बदल गया है

भावनाएँ भी दुर्भावनाओं में

शाम का सूरज बन-ढलकर अब मैं

निस्तेज हो गया हूँ

मेरी हँसी-मुस्कान
क्रोध में परिवर्तित हो गई हैं
जीवन के उद्देश्य भी

कर चुके हैं आत्महत्याएँ

मैं नहीं मिलता किसी से

बस... घर में बन्द रहते हुए

देता हूँ गाँव समाज देश को खूब गालियाँ

कोई स्वप्न भी नहीं है अब मेरी आँखों में

ऐसी कोई भी खबर कभी

पहुँचे तुम तक और तुम अलग जाओ मुझसे

इससे पहले ही पहुँच जाना चाहता हूँ

मैं तुम तक।
***

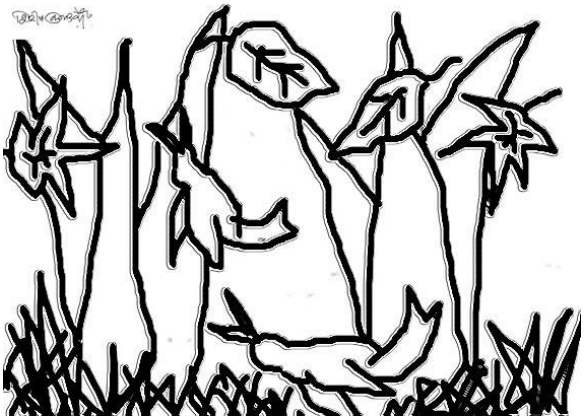

सपनों के षड्यंत्र और विकल्पों की दुनिया

डॉ. अजित की कविताएँ

आत्मकथ्य

खुद को कवि कहने का साहस और कवि होने की जिम्मेदारी दोनों का खुद के अंदर नितांत अभाव पाता हूँ. कविता लिखता हूँ यह कहने के बजाए यदि मैं यह कहूँ कि कविता का मैं माध्यम भर हूँ कविता खुद अपने कवि का चुनाव करती है तो यह बात अधिक सत्य के निकट प्रतीत होगी.

मन में देहात है और नौकरीपेशा के सिलसिले में शहर में रहता हूँ मगर कुल मिलाकर न ही पूरा भदेस बचा हूँ और न ही पक्का शहरी हो पाया हूँ, मेरे जैसी एक पूरी पीढ़ी है जो त्रिशंकु की भांति मध्य में लटकी हुई है खुद को उसी परम्परा का मानता हूँ मैं.

मनोविज्ञान की पढ़ाई की है और पढ़ाता हिन्दी एवं पत्रकारिता हूँ. गत कथन का विरोधाभास ही जीवन का सच है इसी तरह से जीवन में विरोधाभासों के मध्य अपनी यात्रा को पाता हूँ. कविता मेरे लिए खुद से बातचीत करने का एक गहरा अवसर भर है यह एक जीवन में अनेक जीवन जीने के अवसर देती है इसलिए कविता की दुनिया में मुझे संवेदना के साथ रोमांच भी दिखता है.

नियमित और व्यवस्थित ढंग से न कवि हूँ और न लेखक. खुद को जानने की यात्रा कविता का निमित्त बनाती है और जग को जानने की इच्छा से मुक्ति दिलाती है. मेरे लिए इन दो ध्रुवों के मध्य निरुद्देश्य टहलना ही जीवन का एकमात्र रसपूर्ण कर्म है. बस इतना ही.

\- **डॉ. अजित**

1

एक कविता लिखी थी तुम्हारे लिए
जिसका पाठ सुनना था तुमसे

कुछ जंगली फूल लाया था तुम्हारे लिए
उन्हें गूंथना था तुम्हारी वेणी में

तुम्हारी एक मौलिक किस्म की गंध थी मेरे पास
जिसे ले जाना चाहता था समन्दर तक

एक कप चाय पीनी थी तुम्हारे साथ
रसोई में खड़े होकर

बिस्तर पर ऐसे बैठना था न पड़े एक भी सिलवट
और बैठा रहूँ ठीक तुम्हारे सामने

कुछ नदी किनारे मिले छोटे पत्थर सौपने थे तुम्हें
ताकि तुम सूंघ कर बता सको उनका द्रव्यमान

एक सूखी जंगली वनस्पति का टुकड़ा देना था तुम्हें
जिसे तुम लगा सकती थी अपने जूड़े में
पूछना था तुमसे
समय का समास
अपेक्षा का तद्भव
प्रेम का विशेषण
रिश्तों का सर्वनाम

बताना था तुम्हें
तरलता का बोझ
पलायन और अनिच्छा में भेद
डर का कायरता से इतर का संस्करण
खेद का मनोविज्ञान

बस, इन्हीं छोटी छोटी ख्वाहिशों से डर के
ईश्वर ने सही वक्त पर मिलने नहीं दिया तुमसें.

2

जिन दिनों तुम व्यस्त थी
बहस और विमर्शों में
मैं बना रहा था कागज़ की नाव

जब तुम तर्क के शिखर पर थी
मैं सहला रहा था आवारा घास के कान

जिन दिनों तुमसे जीतना लगभग असम्भव था
मैं संग्रहित कर रहा था दुनिया भर के सुसाइड नोट्स
जिन दिनों तुम अपरिमेय उड़ान पर थी
मैं बिलांद से नाप रहा था सप्तऋषि तारों की दूरी

जिन दिनों तुमसे दिल की बात कहना मुश्किल था
मैं देख रहा था नदी के छूटे हुए तटबंध

जिन दिनों तुम करीब रहकर भी थी बेहद दूर
मैं लगा रहा था आसमान की आँख पर चश्मा
उन दिनों की बदौलत जान पाया मैं
सपनों के षड्यंत्र और विकल्पों की दुनिया को
प्रभावित होने और रहने की अनिवार्यता को
उन दिनों पढ़ पाया
पेड़ की चोटी पर टंगे आसमान के खत को
धरती के माथे पर लिखी
सबसे सुंदर मगर सबसे छोटी लिपि को

उन दिनों के कारण देख पाया
गलतफहमियों के झरने का नदी होना
धारणाओं के जंगल का हरा होना
उम्मीद के पहाड़ का बड़ा होना
इंतजार के समंदर का खड़ा होना

समझ नहीं आता कैसे रखूँ याद वे दिन
जब स्मृतियों की आयु थी डेढ़ दिन

स्नेह की तिरछी छाया थी आधा दिन
यथार्थ की धूप थी सारा दिन

मेरे पास उन दिनों केवल रात थी
जिसके सहारे मैं रचता था दुनिया की
सबसे आशावादी उपकल्पना
बताता था खुद ही खुद को मतलबी इंसान
रटता था खुशी की लौकिक परिभाषाएं

नींद को मांगता था ईश्वर से जीवन की तरह उधार
सपने कामना के नहीं प्रार्थना की शर्त पर आते थे

उन दिनों मेरे पास
कुछ उलाहने थे
जो तुम्हें आत्मविश्वास के साथ सुनाने थे
तुम्हारी गति अपने साथ उड़ाकर ले जा रही थी
प्रेम का अधिकार
अपनत्व की चादर
और एक दूसरे की जरूरत

जिन दिनों तुम बेहद मजबूत थी
उन दिनों सबसे कमजोर था मैं.

3

नदी किनारे खड़े हैं कुछ बुद्ध
नदी से रास्ता मांगते हैं
नदी से बिना आज्ञा पार करने की
हिंसा से बचना चाहते हैं वो
करुणा से करते है निवदेन
नदी चाहती है
बुद्ध वहीं ठहर जाएं
इसलिए वो आगे बढ़ जाती है
बुद्ध अब किससे मांगे अनुमति
बहते जल से या ठहरे पल से.

4

सोकर उठा तो लगा कि
धरती के सबसे निर्वासित कोने पर
अकेला बैठा हूँ

नींद की थकान के बाद
देख रहा रहा हूँ
जागे हुए चेहरों की उदासी

धरती घूम रही है अपनी गति से
इसका अनुमान लगाने के लिए मैं थम गया हूँ
मेरी गति अब पुराण की गति के बराबर है

जिसे दुर्गति, निर्गति, सद्गति
कुछ भी समझा जा सकता है
अपनी-अपनी समझ के हिसाब से

जिस जगह मैं हूँ
वहां से एक रास्ता दुनिया की तरफ जाता है
एक रास्ता दुनिया की तरफ से आता है
मगर मैं जिस पगडंडी पर खड़ा हूँ
वहां से दोनों रास्ते अलग नहीं दिखते है
इसलिए मैं देखने की ऊब से
आसमान की तरफ देखने लगता हूँ

आसमान मुझसे पूछता है
धरती के इस कोने का तापमान
मगर मेरे पास मात्र अनुमान है
इसलिए छूने से डरता हूँ धरती के कान

जब से सोकर उठा हूँ
मैं नींद को देख रहा हूँ बड़ी हिकारत से
दोबारा सोने से पहले मेरे कुछ डर हैं

मसलन अगर
इस बार आसमान ने पूछ लिया
मेरा ही द्रव्यमान
तो क्या कहूँगा उसे

फिलहाल जिस कोने पर बैठा हूँ मैं
वहां से कुछ भी नापा जाना सम्भव नहीं

मैंने आसमान की तरफ कर ली है पीठ
और धरती की आंखों में देख रहा हूँ
अपनी नींद में डूबी आंखें
शायद देखते-देखते फिर आ जाए नींद

और मैं सोते हुए बच सकूं सवालों से
लेकर कुछ अधूरे सपनों की ओट
नींद और जागने के मध्य
मैं तलाश रहा हूँ वो कोना
जहां मैं खुश हूँ ये बताना न पड़े किसी को
और मैं उदास हूँ छिपाना न पड़े किसी से.

5

एकदिन थककर स्त्री
वापिस ले लेती है
अपने पूरे सवाल
आधे सन्देह
और एक चौथाई सम्भावना

वो ओढ़ लेती है
एक जीवट मुस्कान

पुरुषार्थ की अधिकांश विजय
ऐसी मुस्कानों पर ही खड़ी होती है तनकर

स्त्री के पास होता है
बेहद एकांतिक अनुभव

जिसे नहीं बांटती वो किसी अन्य स्त्री से भी

यही बचाता है उसके अंदर
एकालाप की ऐसी हिम्मत
जिसके भरोसे वो
पुरुषों की दुनिया में बनी रहती है
एक अबूझ पहेली

प्रेम स्त्री की थकन नहीं नाप पाता
घृणा स्त्री की अनिच्छा नहीं देख पाती
दोनों की मदद से
जब पुरुष करता है
किसी की किस्म का कोई दावा

तब स्त्री रोती है अकेले में

ये बात केवल जानता है ईश्वर
मगर वो नहीं बताता
किसी पुरूष का कान पकड़कर
एकांत का यह अन्यथा जीया दुख

और भला बता भी कैसे सकता है
पुरुष ने उसका हाथ चिपका रखा है
हमेशा से खुद के सिर पर
एक स्थाई आशीर्वाद की शक्ल में

स्त्री इसलिए ईश्वर से नहीं करती
कोई शिकायत
वो जानती है ठीक ठीक यह बात
जो सबका है
कम से कम उसका तो
बिल्कुल नहीं हो सकता है.

6

मेरे पिता जी

बाटा का जलसा जूता पहनते थे
बाटा पर उनका यकीन
मुझ पर यकीन से ज्यादा था

गांधी को वो मात्र
खादी भंडार से जानते थे
शहर में जाते तो जरूर जाते गांधी आश्रम
उन्हें कपड़े की उतनी समझ थी
जितने मुझे आदमी की नहीं है

पिता जी को मोहम्मद रफी पसन्द थे
मुकेश के लिए वो कहते
गाता अच्छा है मगर नाक से गाता है
मैंने उन्हें जब मिलवाया किशोर कुमार से
उन्होंने कहा
ये नौजवानों का गायक है

ज्वार भाटा और वक्त
उनकी पसंदीदा फ़िल्म थी
नए लोगो में उन्हें अजय देवगन थे पसन्द
हमनें कई फिल्में साथ देखी
मगर हमारी पसन्द हमेशा रही जुदा

पिता के मरने पर
मैनें उनका जूता नहीं दिया किसी को
कभी-कभी उसमें पैर डालकर
देखता हूँ अकेले में
आज भी वो ढीला आता है मुझे

जब कभी दुनिया के धक्के और धोखे खाकर
हो जाता हूँ थोड़ा हैरान थोड़ा परेशान
जी करता है पिता जी का
वही बाटा जलसा जूता उठाकर
दो चार जड़ लूं
खुद ही खुद के सिर पर

पिछली दफा जब ऐसा करना चाहा मैंने
तो ऐसा करते मुझे देख लिया मेरी माँ ने
पिता के मरने के बाद
पहले बार वो रोई एक अलग स्वर में

मेरे पास पिता का जूता है
मेरे पास मेरा सिर है
और मेरा पैर है
मगर तीनों में कोई मैत्री नहीं है
तीनों अकेले और असंगत है

जीवन की यह सबसे बड़ी शत्रुता है मेरे साथ
जिसे मैं अकेला खत्म नहीं कर सकता.

7

ये बातचीत को अन्यथा
लिए जाने का दौर है
आप कहें पूरब
और कोई समझ ले
इसको निर्वासन की दशा

आप कहें मेरा वो मतलब नहीं था दरअसल
और तब तक मतलब निकल चुका हो हाथ से

इसलिए
बातचीत करते हुए लगता है डर
और बोल जाता हूँ कुछ ऐसा भी
जिसका ठीक ठीक मतलब नहीं पता होता
मुझे भी.

8

स्मृतियों के एक अक्ष पर
टांग रखा है तुम्हारी अंगड़ाई को
जब भी दिल उदास होता है
तुम्हें देख मुस्करा पड़ता हूँ

उम्मीद और भरोसे के सहारे आजकल
तुम्हारी बातों को ओढ़ता हूँ
बैचेनी और नींद की चादर की तरह एक साथ
लगता है कहीं तुम भूल तो नहीं गई मुझे
फिर देता हूँ नसीहत खुद को ही
मान लिया भूल भी गई हो मुझे
मगर कैसे भूल सकती है मेरे पवित्र स्पर्श को

चाँद आधी रात कराहता है जब
जाग जाता हूँ हड़बड़ाकर
नहीं सुन पाते मेरे कान
तुम्हारी शिकायतों को
बन्द कमरे के बाहर चांदनी
चिपका देती है मेरी कुर्की का नोटिस

इन दिनों सबसे ज्यादा याद आता है
तुम्हारा गुस्सा
बरस जाना तुम्हारा आवारा बदली की तरह
मेरा माथा अब गर्म रहता है
बरसात के इंतजार में भूल गया हूँ मैं
हिंदी मास के नाम
सितंबर महीने की सुनता हूँ
मौसम की भविष्यवाणी
इस तरह तुम्हें याद करते हुआ जाता हूँ अंग्रेज

कृष्ण -शुक्ल पक्ष और नक्षत्र के फलादेश
बांचता हूँ रोज़
करता हूँ दिशाशूल का विचार
जिस जगह तुम रहती हो
इसी ग्रह पर होने के बावजूद
आसान नहीं है वहां की यात्रा
शुभ अशुभ से परे मैं घड़ी की सुईयों पर
झूला डाल ऊंघता रहता हूँ दिन में कई बार
भले ही इस देश का बाशिंदा हूँ

मगर तुम्हारा शहर करता है इनकार
मुझे एक नागरिक मानने से
उसे लगता हूँ मै संदिग्ध
और तुम्हारी बाह्य शान्ति के लिए एक खतरा
निर्वासन प्राश्रय के लिए
नहीं करता वो स्वीकार मेरी तमाम अर्जियां

फिर तुम्हारी यादें देती हैं दिलासा
कि तुम कर रही हो इंतजार मेरा बसन्त सा
साल कोई सा भी हो
मुझे जाना होगा उसी तरह से घुमड़कर
ताकि बह जाए हमारे मध्य की
तमाम गलतफहमियां
हंसी के पतनालों से

उम्मीद के भरोसे हूँ आजकल
तुम पता नहीं किसके भरोसे हो
मेरे तो नहीं हो कम से कम
चलो ! ये भी एक अच्छी ही बात है.

9

सामान्य सी बातचीत में
एक दिन उसने कहा
तुम मिलते तो दिल बहल जाता है मेरा
मैंने कहा
क्या मैं कोई विदूषक हूँ तुम्हारे जीवन में
इस पर खीझते हुए उसने कहा
कई बार अफ़सोस होता है तुम्हारी सोच पर
बात गम्भीर होती देख हंस पड़ा मैं
मगर वो नहीं हंसी
तब मुझे पता चला
उसके जीवन में कम से कम
एक विदूषक नहीं था मैं.
***

प्रेम त्रिकोण को समझने के लिए
कई बार मैं बन जाता अज्ञानी छात्र
और पूछता उससे
त्रिकोण के अंशो का मान
वो दिल की प्रमेय की मदद से बताती
कैसे दो लोगो का वर्गमूल हो जाता है एक समान
प्रेम की ज्यामिति को समझने के लिए वो देती
कुछ मौलिक किस्म के सूत्र
तमाम स्पष्टता के बावजूद
हमेशा गलत होते मेरे सवाल
इस बात वो शाबासी देती हमेशा
गलत सवाल पूछने पर
या गलत जवाब निकालने पर
नहीं समझ पाया आज तक.
***
अन्य स्त्रियों की तरह
उसी नहीं था पसन्द मेरा कमजोर पड़ना
यहां तक वो चाहती थी
न करूं जिक्र मैं सर्दी जुकाम और खांसी का भी
बीमारी की सूचना पर आजतक नहीं कहा उसने
टेक केयर
वो चाहती थी मैं अकेले लड़ूं सारे युद्ध
सहानुभूति लूटने की आदत के सख्त खिलाफ थी वो
वो देखना चाहती थी मुझे
हमेशा स्थिर और मजबूत
उसकी वजह से बीमार पड़ना भूल गया था मैं
इसलिए
बीमारी आती रही वो सबसे ज्यादा याद.
***
ऐसा अक्सर हुआ
हम असहमत हुए
और बंद हो गई बोलचाल
सम्बन्धों का ये बेहद लौकिक संस्करण था
जिससे हम गुजरते थे साथ-साथ
इस आदत का हमने कोई सम्पादन नहीं किया
ना कोई स्पष्टीकरण दिया कभी

नहीं भेजे लम्बे चौड़े माफीनामे
एक अदद स्माइल से चल जाता था काम
हमारे मध्य ईगो नहीं
हमेशा दुनिया के ईगो के मध्य रहें हम.

कई बरस बाद मिलने पर उसने पूछा
सुना है कवि हो गए हो तुम
मैंने कहा पता नहीं
फिर तो पक्का हो गए हो
कवियों को आदत होती है रहस्य रचने की
मैंने कहा चलों यूं होगा
फिर अचानक मेरी एक कविता पढ़ने लगी मोबाइल पर
एक सांस में पढ़ने के बाद बोली
एक बात बताओ किसके लिए लिखी ये कविता
मैंने कहा पता नहीं
तुम्हें कुछ पता भी है फिर?
मैंने कहा बस उतना पता है
जितना तुम्हें पता है कि
कवि हो गया हूँ मैं.
****
जब भी उसे कहनी होती
कोई कड़वी बात
लेती हमेशा सहारा कोह्व का
मैं दो स्माईली बनाता जवाब में
जिसका अर्थ वो यह लगाती
मैं समझ तो गया हूँ
मगर मानूंगा नहीं
फिर लम्बा चलता मैसेज का अज्ञातवास
इतना अवरोध हमेशा रहा हमारे ज्ञान के मध्य.
***
कुछ मामलों में जिद पर उतर आती वो
मसलन सैंडिल मोची के पास छोड़ना नहीं
अपने सामने ही ठीक करवाना है
मैंने कहा इतना अविश्वास क्यों
तब वो कहती मुझे रिपेयर देखना अच्छा लगता है
बरसों बाद उससे बिछड़कर समझ पाया
क्यों अच्छा लगता था उसे रिपेयर देखना
दरअसल वो उसकी जिद नहीं
तैयारी थी रफू होती ज़िन्दगी को जीने की.
***
उन दिनों मैं कुछ प्रतिशत अवसाद में था
ये बात केवल वो जानती थी मैं नहीं
इसलिए नहीं छोड़ा उसने मुझे अकेला
कम दिए उपदेश
स्वीकार की मेरी बेतुकी दार्शनिक टीकाएँ
रूचि से पढ़े पलायन के नोह्व
आज अगर मैं जिन्दा हूँ
इसमें बहुत बड़ा प्रतिशत उसका हाथ है
ये बात भी तभी पता चली
जब छूट गए उसके हाथ.

10

लिखने को इतना कुछ था
आसपास
मगर उसने चुना केवल प्रेम
वो डाकिया था
जिसने चिट्ठियां बांटी सही पतों पर.
***
प्रेम ने बदल दी थी उसकी दुनिया
वो अब लिखता था
जेठ की दोपहर में
फागुन के गीत
मौसम ने दिया था उसको शाप
उदास रहने का.
***
उसके पास थे
सब किस्से उधार के
जिन्हें उसका समझा गया
और लगाए गए अनुमान
वो एक अच्छा किस्सागो था

और एक खराब प्रेमी
ये बात केवल उसका एकांत जानता था.
***
उसके पास
कुछ नहीं था जताने बताने और समझाने के लिए
उसकी स्मृतियां
अल्पकालीन निविदाओं पर आश्रित थीं
वो अनुबंधित था
हस्तक्षेप न करने के लिए
इसलिए भी था
उसका हर वादा सरकारी.

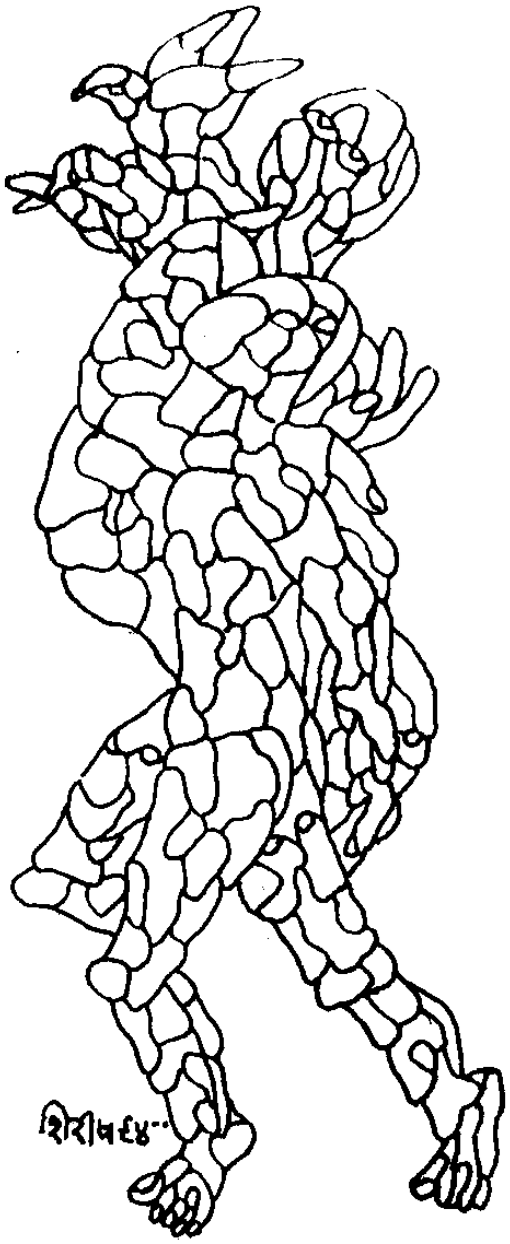

आशंकाओं के बीच आशा

विवेक निराला की कविताएँ

आशंकाओं के बीच आशा

कल्पना और सपनों से परे ये कविताएं निखालिस आज की हैं। ये कविताएं अपने समय के प्रति सजग नागरिक की कविताएं हैं। एक ऐसा शहरी जो इंसान से इंसानों जैसे व्यवहार किए जाने की उम्मीद रखता है। इन कविताओं को कहने वाला कवि दरअसल हमारा ऐसा पड़ोसी है, जो महामारी काल में यह सोचते हुए जी रहा है कि हमने आज रात कुछ खाया है कि नहीं....

विवेक निराला की ये कविताएं हाल ही में अमेरिका में सार्वजनिक स्थल पर हुई अश्वेत अमेरिकन की हत्या और वैश्विकरण महामारी के समय दिल्ली-मुंबई जैसे महानगरों से पलायन करते प्रवासी की ओर से सत्ताओं को लिखी गयी शिकायती चिट्ठी हैं। जब हुकूमत मदारी के किरदार में आवाम को जमूरा बनाती है तो अपना आखिरी बयान दर्ज कराने से पहले कवि को अपना धर्म निभाना ही है। 'यह दृश्य महान नहीं था' के खाली हाथ और भूखे पेट का दर्द वही है, जो विवेक निराला की एक अन्य कविता "मरण" में आजीविका के लिए गांव से शहर आते व्यक्ति का था। 'स्वगत' कविता में रहनुमा होने से पहले का सफ़र है, वह सफ़र जिसमें हर एक के दुख दर्द को आगे बढ़कर संभालना है, हर अभाव में सान्त्वना देना है, सत्य और असत्य के हर द्वंद्व में सत्य के साथ खड़ा होना है, हर एक को समझना है। 'संधि' दो मन की बिना कहे होती हुई बात है। चुप रहने से बड़ी कोई और अभिव्यक्ति नहीं होती और मुक्त कर देने से अधिक प्रबल कोई इच्छा नहीं हो सकती। किसी संबंध के भीतर दोनों उच्चतम मानवीय गुण हैं। ये सभी कविताएँ सवालों के पिरामिड खड़े करती हैं। राष्ट्रगान और संविधान पर यक़ीन करता हुआ एक आम आदमी 'शायद' की ड्योढ़ी पर खड़ा नए रास्ते के इंतज़ार में है, क्योंकि 'शायद' के सहारे रहना कितनी भी आशंकाओं के बीच आशा को जिलाए रखना है।

-पूनम ठाकुर

यह दृश्य महान नहीं था

यह दृश्य महान तो नहीं था
यहाँ हर कोई उदासी से लिपटा और परेशान था।

महानगरों से मज़दूर अपने घर लौट रहे थे।
उनकी आत्मा में खलबली मची थी
और जेब में सिर्फ़ भूख बची थी।

जबकि थम गया था काल-चक्र
स्थगित हो चुके थे सारे के सारे पहिये
राजाज्ञा थी कि 'जहाँ हैं,
वहीं बने रहिये।'
मगर, अपनी सारी मुश्किलों के बावजूद
चींटियों की कतार की तरह
वे बस चले जा रहे थे और
छले जा रहे थे।

उनका जाना शहर का विरोध नहीं था
न किसी उच्च सदन से बहिर्गमन
कल्याणकारी राज्य के पतन से ऊब कर
वे अब अपनी इच्छाओं का दमन करना सीख चुके थे।
वे इसे भी राष्ट्र के लिए बलिदान मानते थे
अपने हाथ पर भरोसे को और पुख़्ता करते हुए
वे अपनी क़ीमत जानते थे।

अपने पहचान-पत्रों में वे बेहद अकेले मनुष्य भर थे
जिनकी नागरिकता अभी प्रमाणित होनी थी

जिनकी झुलसी हुई त्वचा और छिली हुई आत्मा में
कितनी ही तरह के डर थे
वे जब अपने घर के भीतर भी थे
तो सुखी लोगों की गणना से बाहर थे।
***

मैं साँस नहीं ले पा रहा हूँ

तुम्हारे सफेद धुएँ ने ढक दिया है
हमारे साँवले आसमान को
आदिम काले पहाड़
सफेद बर्फ की चादर ओढ़े खड़े हैं।

हमारे बहुत पुराने घावों पर
तुमने सफेद पट्टियाँ बाँधीं भी तो
चुटकी भर नमक छिड़कते हुए
काला पड़ चुका खून
जिनसे अब भी रिसता है।
सफेदी की इस चमकती दुनिया में
मैं साँस नहीं ले पा रहा हूँ।

हमारी नदियों के श्यामल जल पर
सफेदी के बाँध बने हैं
हमारी काली मिट्टी पर खड़ी हैं
ऊँची सफेद इमारतें।

तुम तो अपने घर को भी 'व्हाइट हाउस' कहते हो न!

जिन पाँवों के नीचे दबी हुई हो गर्दन
उसे सहलाए जाने की
कूटनीतिक कहावत जानते हुए भी
मैं साँस नहीं ले पा रहा हूँ।

कोलतार की काली और चिकनी सड़क की
ज़ेब्रा क्रासिंग पर
इससे पहले कि मैं मार दिया जाऊँ
मेरा आखिरी बयान दर्ज़ किया जाय
कि-'श्वेत नफरतों की इस दुनिया में
मैं अपनी काली काया के साथ
अब साँस भी नहीं ले पा रहा हूँ।'
***

शायद

रामदास को पता था
कि उसकी हत्या होगी।

शायद उसे न पता रहा हो
शायद हत्यारे को पता रहा हो
शायद रघुवीर सहाय को पता रहा हो
या प्रधानमंत्री को।

शायद तुम्हें पता हो
कि अभी यहाँ से जाने के बाद
तुम्हारे साथ क्या होगा
हमारे साथ क्या होगा
शायद सभाध्यक्ष को पता हो
या संचालक को।

शायद आप में से किसी को पता हो
शायद रक्षामंत्री को
शायद गृहमंत्री को

अब मुख्यमंत्री को तो ज़रूर पता होगा
उनके सूबे की बात जो ठहरी!

यह जो शायद है
इसमें थोड़ा सा यक़ीन है
सन्देह है, अनुमान है

एक राष्ट्रगान और एक संविधान है
मगर,
कवि की अब भी ख़तरे में जान है।
***

तथ्य

एक आदमी अपने चार बीघा
खेतों में हाड़ तोड़ मेहनत
के बाद हासिल कर्ज़ अपने झोले में
सहेजे आत्मघात की तरफ
चला जा रहा है।

एक औरत अपने लम्बे
विश्वास से बाहर
लुटती-पिटती लौट रही है
भीतर के दु:खों को सम्हालती।

एक बच्चा जो
कूड़े में खेल रहा था
बम फटने से मारा जाता है
जेब में तीन चिकने पत्थर लिए।

एक लड़की जो
दुनिया में आने की सज़ा
पाती है और नीले निशान
अपनी फिरोजी फ्रॉक से छिपाती फिरती है।

क्या फर्क पड़ता है--
हमारे समय का बीज वाक्य है
यह हमारे समय का
अन्तिम सत्य।

मगर, सोचो तमाम गाजे-बाजे, विज्ञापन और
इक्कीस तोपों की सलामी से
कब तक बचेगा
तुम्हारा चौड़ा सीना
तुम्हारा बेशर्म आधिपत्य।
***

हमारे समय के हत्यारों ने

हमारे समय के हत्यारों ने
एकल को सामूहिक किया
और हत्यारों के समूह का विकास हुआ।

उन्होंने हत्या को
कला में बदल दिया
और कला को हत्या में
बदल देने के तरीके बताए।

हथियारों को मशीन में
और मशीनों को बन्दूकों में
बदलते हुए उन्होंने हत्या को
और भी ज़्यादा वैज्ञानिक बनाया।

फिर, वे शास्त्र लेकर आये
उन्होंने हत्या की पूरी परम्परा की
आधुनिक व्याख्या की
हिंसा की दार्शनिक दलीलें दीं
बर्बरता को सांस्कृतिक कर्म बताया।

इस तरह,
हमारे समय के हत्यारों ने
अपने लिए हत्या को वैधता दी।
***

सन्धि

मेरे मन की एक पतली डोर
जो तुम तक पहुँचती है

उसी से मकड़ी
अपना जाल बुनती है।
तेरी देह-गंध भी तो चुरा ले गईं मंजरियाँ
तुझे पता भी न चला!
मुझसे हवाओं ने मुखबिरी की।

तेरे हास से
चिटक उठीं कलियाँ,
चरणों को देख
चमक उठा चन्द्रमा।

मेरी आँख के तिनके
तुम्हारे स्वप्न-पंछी का बसा आवास
और आँसुओं में
मेरी भुजाओं की मछलियाँ तैरती हैं।

तुम्हारी कल्पना में
मेरी मूकता है और
मेरी इच्छाओं में
तुम्हारी मुक्ति।

यह तो
तुम्हारे निरपराध जीवन से
मेरी निर्दोष मृत्यु की सन्धि है।
***

इंतज़ार

कितना भटकता रहा
अकेला मन
कोई मिले
परिचय की गाँठ लगाये।

नींद ने मुझसे
बरसों कोई बात तक न की
सपनों के चेहरों पर
काले धब्बे उभर आये।

बेहोशी में बार-बार
बड़बड़ाता रहा
कितना कुछ
कि कोई आये, मुझे बताये।

मृत्यु की कोई शक़्ल
अब तक नहीं बना पाया
उसे जब-जब देखा
अपने चेहरे को छिपाये।

इस सब के लिए
मैंने कितना इंतज़ार किया
कितने ही जीवन गंवाये।
***

स्वगत

नींद में भी समाधि की यह
गन्ध कितनी मादक है
और मृत्यु का स्पर्श इतना उत्तेजक।
अपने ही भीतर के
कक्षों में सुरक्षित बसने से पहले
दूसरों की कन्दराओं में प्रवेश करो।

आत्मा का भी अपना लावण्य होता है
तुम किसी की आत्मा तक
पहुँचो तो सही।
किसी की आत्मा के नमक को
अपनी पलकों से उठाओ
उसकी चमक के बूते
अपने अँधेरों से जूझो और
अपने आधे-अधूरे सत्य की धमक के आगे
सम्पूर्ण सत्य की मद्धिम धुनों को सुनो।
चुनो! अपना एक पक्ष तो चुनो।

अपनी आँखों में पड़ी
दूसरे के दुख की झांइयों को पढ़ो
अपनी ही आदिम परछाइयों से लड़ो।

अपने भीतर झाँकना ही काफी नहीं
उसकी कायदे से तलाशी होनी चाहिए
चोर जेबों को उलटकर
टटोल लेने चाहिए सारे अँधेरे कोने।

वरना,अपने ही गड्ढों में गिरोगे
कोई नहीं आएगा तुम पर रोने।

विवेक प्यारे!
तब, रहनुमाई का दम भरो
और पूरे इत्मीनान से मरो।
***

आत्महत्या के बारे में सोचते हुए

आत्महत्या के बारे में सोचते हुए
मैंने खनकते कलदार
सिक्कों के बारे में सोचा जो छुपे थे
जिन्हें खोटेपन ने चलन से
बाहर कर दिया था।

मैंने तारों सहित उलट गए
आकाश के बारे में सोचा
मैंने सोचा चमगादड़ों की तरह लटके
सूर्य और चन्द्रमा के बारे में।

आत्महत्या के बारे में सोचते हुए
मैंने फूलों और तितलियों के बारे में सोचा
मैंने सोचा सूखे से दरकते खेतों के बारे में।

मैंने जलते हुए जंगलों और विस्थापित लोगों
पूँजी और मशीनों और उद्योगों के बारे में सोचा
मैंने अपनी दो कौड़ी की नौकरी
और चार पैसे की मध्यवर्गीय
चतुर चुप्पी के बारे में सोचा।

मैंने अपने हृदय की आग जलाये रखने के लिए
महँगे किरोसीन और
सस्ती-सी कुप्पी के बारे में सोचा।

अपने घर-परिवार से लेकर
सारे संसार के बारे में सोचते हुए
मैंने एक चिड़िया के बारे में सोचा।

आत्महत्या के बारे में सोचते हुए
मैंने खूब सोचा चिड़िया की उड़ान के बारे में
मगर अन्त में पाया-
उम्मीद एक मरी हुई चिड़िया का नाम है।
***

एक बस्ती हम जैसों के लिये

वीरेन्द्र गोस्वामी की कविताएँ

मैं देखता हूँ कि लोग बहुत अलग-अलग तरह का जीवन जीते हुए कविताएँ लिखते हैं या लिखने की कोशिश करते हैं। ये कोशिशें और ये संघर्ष सहज हों तो सुन्दर भी लगते हैं। लिखने की शुरूआत किसी भी उम्र से हो सकती है। तीस, चालीस या पचास की उम्र में भी अचानक एक व्यक्ति अपने भीतर कविता को पुकारते हुए सुनता है। वीरेन्द्र की कविता ऐसी ही एक पुकार है, जिसकी दिशा स्वयं कवि के कथनानुसार 'दूसरे की आवाज़' बनने की कोशिश भी है। वे इस विचार के हामी हैं कि कविता राजनीति और समाज के दुश्चक्रों में फंसे उस व्यक्ति की आवाज़ बनती है, जिसकी आवाज़ या तो दबा दी गई है या इतनी धीमी है कि सुनाई ही नहीं देती।
वीरेन्द्र गोस्वामी की कविताओं के कहीं भी प्रकाशन का यह शायद पहला प्रसंग है, उनका स्वागत है।

कवि ने कहा

कभी कभी कोई विचार मेरा दरवाज़ा खटखटाता है। जैसे ही मैं वो दरवाज़ा खोलता हूँ, एक कविता भीतर आ जाती है। कई बार कुछ शब्द मेरे दरवाजे को ज़ोर से पीटते हैं और न चाह कर भी मैं उठ जाता हूँ। सोच कर कविता लिखना मेरे लिये सम्भव नहीं, आत्मसंवाद ही मेरी कविताएँ हैं।'सब ऐसे ही होता है' के प्रति झुँझलाहट और साथ ही 'दूसरे की आवाज़' बनने की कोशिश आपको कई बार मेरे लेखन में दिखेगी।

दाज्यू 1

दाज्यू तुम आये थे उस बार

पैदल

चार लोगों के साथ

मेरे घर तक

सड़क से छः मील

गधेरो के किनारे चलते चलते और

इजा से कहा था –

काकी अब नही सड़ेंगें तुम्हारे संतरें माल्टे यहीं पेड़ों पर

अब आने वाली हैं सड़क प्राईमरी स्कूल के सामने तक

हमारी सरकार बनते ही

दाज्यू

शायद याद हो तुम्हें

लछमा को एक टाफी देते हुए तुमने बताया

कि मंदिर के पास

इंटर कॉलेज बनेगा बच्चों के उज्जवल भविष्य के लिये और

अस्पताल भीपानीं की टंकियाँ भी

और दाज्यू

सुना है

इस बार भी तुम आये थे उसी सड़क से

जो जाती हैं मेरे घर से छः मील दूर से आज भी

चार लोगों नहीं

चार कारों के साथ

सरकारी बंगले में ठहरने एक शहर में

वहाँ

जहाँ आज भी हैं इलाक़े का अकेला अस्पताल

जहाँ मिलता हैं आज भी अच्छा पानी

हमारे घर से दूर पढ़ने गये

डेरों में रहते होनहारों को

दाज्यू

दो साल बाद तुम फिर से आओगे पैदल

सड़क से छः मील दूर

गधेरो के किनारे चलते चलते मेरे घर
बातें करने
पेड़ों पर सड़ते सन्तरे माल्टों की

दूर से कनस्तर पर पानी लाते घर के बच्चों को देख

पानी की टंकियों और कॉलेज की

और बिना इलाज मर चुकी इजा की याद में अस्पताल बनाने की।

ताकि तुम दोबारा आ सको

मेरे घर के छः मील से गुजरती सड़क से

चार कारों पर

उसी डाक बंगले तक

किसी उद्घाटन में।

***

दाज्यू 2

क्यों लगवाते हो नारे हमसे

देते क्यों नहीं दो वक्त की रोटी और पीने का साफ़ पानी

क्यों देते हो हमारे हाथों में काले झण्डे

क्यों नहीं देते बेलचे फावड़े

कि हम ख़ुद ही बना सकें दो वक़्त का सुकून

जोड़ सकें अपने झोपड़े की टूटती छत्त

क्यों खेलते हो हमारे कल से अपना ‘कल’ चमकाने को

क्यों देते हो आश्वासन,

कब तक करोगे अपना घर रोशन हमारे घरों की आंच से

कब पिघलोगे हमारे जलने के ताप से

दाज्यू

आज बतला दो सब सच सच या दे दो कुछ ऐसे तर्क

कि लगा सकें नारे फिर से

भूल कर दो वक्त की रोटी और पीने का साफ़ पानी

कि पकड़ सकें काले झण्ड़े फिर से किनारे रख कर बेलचे और फावड़े

दाज्यू

क्यों, आखिर क्यों हम खोदते रहें अपनी ही क़ब्र

पूरी उम्र

***

याद होगा तुम्हें

याद होगा तुम्हें
जब तुम्हारे हाथों को थाम

बताया था मैंने

कि दूर उस पहाड़ के पीछे

जहाँ से सूरज आता है रोज बिना नागा

है एक बस्ती हम जैसों के लिये

बहुत सुन्दर

याद होगा तुम्हें यह भी

कि मैं कहा करता था वहाँ जायेंगें हम भी एक दिन

छोड़ कर पहाड़ के इस ओर की सारी बुराईयां यहीं पर

और बसायेंगे एक घर वहाँ

अपने सपनों का घर

और

यह भी कि

हमारे विछोह के पल तक भी मैं दोहराता रहा यहीं सब

और एक बार भी यह सच नहीं बताया

कि अगर बस सका उस पार हमारा घर

उस सुंदर बस्ती में

तो वह होगा पहला घर उस बस्ती का

जहाँ

जाने की बातें करते रहते हैं

पहाड़ के इस बार गंदी बस्ती के कई लोग

यूँ ही बाँहें थामे

एक दूसरे की

(अशोक पांडे से प्रेरित)

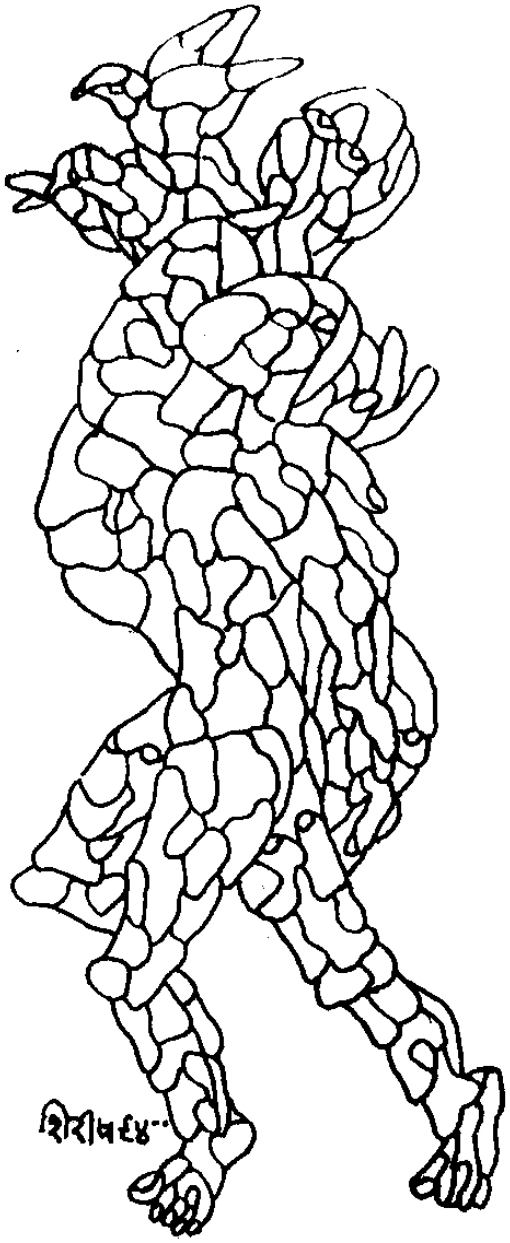

थक जाते थे हम कलियाँ चुनते

प्रचण्ड प्रवीर (बाल साहित्य/कविता पर आलेख)

इक्कीसवीं सदी के आरम्भ में हिन्दी में जिन महत्वपूर्ण कथाकारों की आमद हुई है, प्रचण्ड प्रवीर उनमें बेहद ख़ास और अलग नाम है। वे क़िस्सागोई के साथ आलोचना के कुछ उपेक्षित क्षेत्रों में भी सक्रिय हैं। सिनेमा पर उनकी पुस्तक चर्चित रही है। अनुनाद को बाल साहित्य पर उनका यह सुचिंतित लेख हासिल हुआ है। जबकि बाल साहित्य/कविता पर चर्चा होनी लगभग बंद ही हो गई है, प्रचण्ड प्रवीर ने इस इलाक़े में सार्थक और अनिवार्य हस्तक्षेप किया है। इस हस्तक्षेप के लिए अनुनाद लेखक का आभारी है।

थक जाते थे हम कलियाँ चुनते !

[यह आलेख बहुत सी चिन्ताओं का समन्वय है, जिसमें मूल समस्याओं का उत्स निबन्धकार बाल साहित्य की अक्षम्य अनदेखी और निष्काम कर्तव्य निर्वाहन की अरुचि में पाता है।]

साहित्य में चिन्ताएँ और साहित्य की चिन्ताएँ

पिछले साल हमारी मुलाकात एक साहब से हुयी थी। जनाब उम्दा लेख लिखा करते थे और अवारा मसीहा जैसे नज़र आते थे। कनॉट प्लेस में नमकीन लाइम सोडा पीते हुए अपनी सहेलियों से घिरे होने के बावजूद उन्होंने एक ऐसी बात कही जो उनकी समझ से बड़ी संजीदा थी। उन्होंने फरमाया कि साहित्य पढ़ने-पढ़ाने का क्या फायदा? साहित्य में पीएचडी कर लेने पर भी कोई उम्दा कवि नहीं बन सकता। उनकी बात उनकी सहेलियों ने पसन्द की। बाद में उन्होंने औरों को भी यही सुनाया-पढ़ाया।

इस आपत्ति में एक मूलभूत गलती है कि साहित्य का अध्ययन 'भावयित्री प्रतिभा' को पुष्ट करने के लिए कुछ हद तक जिम्मेदार माना जा सकता है, किन्तु साहित्य में शोध की दिशा सामाजिक संरचनाओं को, नयी साहित्य की चुनौतियों को समझने के लिए होती है। यह और बात है कि यह भी अधिकांश शोधार्थी नहीं कर पाते हैं। पर यह तो पक्की बात है कि साहित्य का विद्यार्थी होने के कारण उसमें 'कारयित्री प्रतिभा' हो जाए,यह विरले संयोग की बात होगी। आमतौर पर ऐसा नहीं होता, न ही पाठ्यक्रम इस तरह से बनाए जाते हैं कि विद्यार्थी उत्तम 'भावक' या 'कवि' बन कर निकलें। साहित्य के विद्यार्थी का अधिक से अधिक वितान आलोचना का आकाश ही हो सकता है, जो कि समीक्षा के मैदान से अधिक फैला है।

दूसरी बात जो जनाब ने कही थी, जो मुझे माकूल भी लगी वह यह कि आज की हिन्दी कविता का स्वर शिकायत का अधिक है, जिस तरह आजकल की अधिकतर उर्दू ग़ज़लें महबूब की शबनमीं आँखों और सुर्ख रूखसार तक रुकी हुयी है। मुकम्मल सवाल है कि आदमी शिकायत क्यों न करे? लेकिन इस सवाल की तह में जाते हैं कि आदमी शिकायत क्यों कर रहा है? क्या वजहें हैं?

इसके बहुत दिलचस्प जवाब मिलते हैं। मसलन, समाज में बुरा हो रहा है। दुनिया में अंधेर है। राजनैतिक पार्टियों ने देश को डुबो दिया है। इतना खराब समय कभी न आया था। हम इतने अच्छे कवि हैं हमें कोई पूछ नहीं रहा है। हमारा मूल्यांकन नहीं हो रहा है। हमें साहित्य अकादमी नहीं दिया जा रहा है। वेबीनार पर प्रमुख कवियों में हमारा नाम नहीं लिया जा रहा है।

शिकायतें दो तरह की हो जाती हैं। पहली – दुनिया जहान की शिकायत। इसमें पड़ोसियों से ले कर अमरीकी राष्ट्रपति ट्रम्प की आदतों तक जिक्र किया जा

सकता है। दूसरी – अपने ग़मों की शिकायत। हर शिकायत का एक ही मजमून होता है कि हम कुछ चाहते थे जो हमारे हिसाब से नहीं हो रहा है। कई शिकायतें सही भी होती हैं और कई गलत भी। यह हिन्दी कविता का स्वर हो जाय तो निश्चय ही कविता का बहरहाल एकांगी और जड़ है। मैं समझता हूँ कि इस जड़ता को तोड़ना चाहिए। इसका एक ही उपाय है आत्मचिन्तन और पुनर्मूल्यांकन। इस बिन्दु पर मैं फिर आऊँगा।

आज के साहित्य विमर्श का फैशन है, हाशियों की ही बात करना। कोई बुराई नहीं है कि दबे-कुचले, और हाशियों पर पड़े लोग को चिन्तन केन्द्र पर लाना। इसे फैशन कहने का तात्पर्य यह है कि यह चिन्ता नपुंसक प्रतीत होती है इस तरह कि नारेबाजी और धरनेबाजी तक खुद को सीमित कर लिया जाय। उससे आगे की चुनौतियों की समझ हम में शायद नहीं है या उस उच्च कोटि का विमर्श हम करना नहीं चाहते क्योंकि हमारी तैयारी नहीं है। अपनी धारणाओं को ले कर इतनी निश्चिंतता है कि विरोधियों को हम देखना नहीं चाहते, संवाद तो बहुत दूर की बात है। हमें याद करना चाहिए कि आज से सौ साल पहले भारत की स्थिति कहीं अधिक विकट थी। हम आर्थिक और सामाजिक रूप से बहुत पिछड़े थे, पर शायद नैतिक रूप से बहुत उन्नत थे, क्योंकि विरोधियों से संवाद की परम्परा हमेशा थी। गांधी जी श्रीमद्भगवद्गीता के उस आदर्श पर चलते थे जिसमें प्रिय और अप्रिय से व्यवहार में भेद नहीं करते।

बालसाहित्य

उपरोक्त चिन्ताओं के साथ ही मैं समझता हूँ कि हिन्दी साहित्य का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग आज हाशिये पर पड़ा है। वह है बाल-साहित्य! शोधार्थियों को छोड़ दें, और एक आम हिन्दी के लेखक-कवि-पाठक से पूछा जाय कि क्या आपको दस शिशुगीत, दस सुन्दर हिन्दी बाल कविताएँ याद है, जो मूलत: हिन्दी में लिखे गये हों? क्या आप उसे अपने बच्चों को सुनाते हैं? हिन्दी साहित्य संसार में इसका क्या जवाब आएगा इसकी आप सहज ही कल्पना कर सकते हैं। इसी प्रश्न को आप थोड़ा और घुमा कर पूछिए। हिन्दी के दस प्रसिद्ध बाल साहित्यकारों के नाम बता दें, और हिन्दी के दस समकालीन युवा कवियों के नाम बता दें। जाहिर है दूसरे सवाल के जवाब में लोग आपको सौ कवियों की सूची थमा देंगे। सोशल मीडिया पर पाँच बेहतरीन कवियों को टैग करके जानकारी देंगे। किन्तु सवाल के पहले हिस्से यानी बाल-साहित्यकारों को हमने केवल 'चौदह नवम्बर : बाल दिवस' के लिए रख छोड़ा है।

इसका कारण क्या है? बहुत बड़ा कारण है कि हमारा संकुचित ज्ञान। अव्वल हम जानते ही नहीं कि हिन्दी बाल कविता कितनी समृद्ध रही है। हमें इनके बेहतर प्रतिमानों से कोई बावस्ता नहीं है। निम्नलिखित तीन मानक संग्रह हिन्दी के बेहतरीन बाल कविताओं के लिए संजोने लायक हैं :

- 1. बाल पत्रिका 'पराग' के सम्पादक रह चुके **हरिकृष्ण देवसरे** (१९४०-२०१३) द्वारा सम्पादित – बच्चों की सौ कविताएँ
- 2.बाल पत्रिका 'नंदन' के सम्पादक रह चुके **जयप्रकाश भारती** (१९३६-२००५) द्वारा सम्पादित – हिन्दी की श्रेष्ठ बाल कविताएँ
- **3. कृष्ण शलभ** (१९४५-२०१७) द्वारा सम्पादित – बचपन एक समंदर

क्या उपरोक्त किताबें देश की हर विश्वविद्यालय की हिन्दी पुस्तकालय में उपलब्ध है? अगर सारी नहीं, किन्तु पाँच प्रतिशत हिन्दी विभागों ने भी बाल साहित्य को अपने साहित्यिक विमर्श में जगह दी है तो मेरा आलेख व्यर्थ ही समझा जाय और मेरी बातें प्रलाप! क्या हिन्दी के अध्यापक, प्राध्यापक, साहित्य

समाज, हिन्दी बाल साहित्य को समाज मे समावेशित करने के लिए बाल साहित्य की परम्परा से परिचित हैं? क्या समकालीन हिन्दी बाल साहित्य केवल कुछ पत्रिकाओं तक सीमित है? यह भी छोड़िए, हिन्दी के कोरोना काल के वेबीनार संग्राम में कमर कसने वाले, फलाना-ढिमका-चिलाना पुरस्कार पाने और न पाने वाले, बड़े-छोटे, वैचारिक और क्रान्तिकारी कवियों ने कितनी बाल कविताएँ लिखी हैं या इस पर गर्व महसूस किया है कि वह भाषा को मानव विकास यात्रा के महत्त्वपूर्ण अंग में कोई सार्थक योगदान कर सके हैं?

यह बात पुन: रेखांकित करने की आवश्यकता है कि इस गौरवशाली परम्परा में हिन्दी के अधिकतर बड़े कवियों ने बच्चों के लिए समर्थ कविताएँ लिखी हैं, जिनमें कुछ इस तरह से हैं:

श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, सुभद्राकुमारी चौहान, रामधारी सिंह दिनकर, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा, हरिवंश राय बच्चन, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, प्रभाकर माचवे, भवानीप्रसाद मिश्र, भारतभूषण अग्रवाल, रघुवीर सहाय, त्रिलोचन, प्रयाग शुक्ल, विनोद कुमार शुक्ल, रमेश चन्द्र शाह, राजेश जोशी, प्रभात आदि।

जब हम बाल कविताओं के शिखर व्यक्तित्व से जुड़ते हैं, तब हमें सच्ची चुनौतियों का पता चलता है। हिन्दी में ऐसे कई बहुत अच्छे कवि हुए जिनके काम को आज कोई न पूछ रहा है, न जान रहा है। मेरा यह दावा है कि कुछ बाल कविताओं के सामने हमारी समकालीन वयस्कों की बहुचर्चित कविताएँ पानी भरती नज़र आएँगी। यहाँ पर मैं उन कवियों का स्मरण करना चाह रहा हूँ जिनके बाल साहित्य कर्म ने उनके अन्य कामों पर पर्दा डाल दिया, या वे खुद भी बाल साहित्य तक सीमित हो कर बाल साहित्य में अविस्मरणीय योगदान दिया है :

सोहनलाल द्विवेदी, द्वारिकाप्रसाद माहेश्वरी, निरंकार देव सेवक, विद्याविभूषण विभु, सभामोहन अवधिया 'स्वर्णसहोदर', विद्यावती कोकिल, आरसी प्रसाद सिंह, भूप नारायण दीक्षित, फिल्म अभिनेत्री कामिनी कौशल, दामोदर अग्रवाल, शेरजंग गर्ग, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, कन्हैयालाल मत्त, चन्द्रपालसिंह यादव 'मयंक', रमेश तैलंग, दिविक रमेश, योगेन्द्र दत्त शर्मा, हरीश निगम, पद्मा चौगाँवकर, शकुन्तला कालरा, उषा यादव, रंजना अग्रवाल आदि।

हिन्दी का बाल साहित्य बहुत से पत्रिकाओं, छोटे काव्य-संग्रहों और किताबों में फैला हुआ है। इस विस्तृत हिन्दी बाल साहित्य का लेखा-जोखा रखने के लिए हम प्रकाश मनु (जन्म १९५०) के आभारी हैं। आदरणीय प्रकाश मनु की निम्न पुस्तकें हिन्दी बाल साहित्य के बारे में बहुत कुछ बताती है

- हिन्दी बाल कविता का इतिहास (२००३)
- हिन्दी बाल साहित्य के शिखर व्यक्तित्व (२०१३)
- हिन्दी बाल साहित्य: नयी चुनौतियाँ और सम्भावनाएँ (२०१४)
- हिन्दी बाल साहित्य का इतिहास (२०१८)

अपनी नवीन पुस्तक 'हिन्दी बाल साहित्य का इतिहास' में प्रकाश मनु कहते हैं: - **"... बच्चों को स्वस्थ मनोरंजन देने की सामाजिक जिम्मेदारी में हमने अक्षम्य लापरवाही बरती है। हमने उन्हें ऐसे सीरियलों के भरोसे छोड़ रखा है, जिनमें हिंसा, मारकाट और लुच्चई है। रंगों की उलटियों से भरा ऐसा संसार, जिसमें कहीं घर और कॉरपोरेट जगत के झगड़े हैं, कहीं सेक्स और बदले की उत्तेजना से जुड़ी हुयी हिंसा और षड्यंत्र हैं, कहीं विघटित परिवारों की दुनिया के झगड़े और तनाव हैं।**

बच्चे चाहे-अनचाहे ऐसे सीरियल देखने को अभिशप्त हैं, जो उन्हें शरीर और मन दोनों से 'बीमार' बना रहे हैं।"

प्रकाश मनु हिन्दी बाल कविता की यात्रा का काल विभाजन तीन खण्डों में करते हैं

1. प्रारम्भिक युग – १९०० से १९४७
2. गौरव युग – १९४७ से १९८०
3. विकास धारा – १९८० से अब तक

प्रकाश मनु यह रेखांकित करते हैं कि प्रारम्भिक युग में हिन्दी बाल कविता का मुख स्वर उपदेशात्मक और चरित्र निर्माण तक था। गौरव युग में बाल साहित्य का सृजनात्मक उपलब्धियों का चरम था जहाँ कल्पना और भाव विन्यास ही नहीं, परम्परा और समसामयिक युगबोध का विलक्षण तालमेल था। विकास युग में कवियों ने बच्चों की विवशताएँ, लाचारी, मानसिक उद्वेलन को प्रमुखता दी है।

कुछ कविताएँ

इन कविताओं के विषय में अधिक कहना या इनकी व्याख्या में पड़ना बहुत लाभप्रद न होगा। इसलिए नहीं कि यह सुलभता से बोधगम्य है, बल्कि इसलिए कि यह सहज और सुन्दर हैं जिन्हें अधिक इशारा देने की किसी आलोचक के टॉर्चलाइट की ज़रूरत नहीं है। इन कविताओं पर ध्यान देते हैं और इनसे पुन: स्मरण करते हैं कि सौ साल का हिन्दी बाल साहित्य कितना समृद्ध और उन्नत है।

एक बूँद

ज्यों निकल कर बादलों की गोद से

थी अभी एक बूँद कुछ आगे बढ़ी

सोचने फिर फिर यही मन में लगी

आह क्यों घर छोड़ कर मैं यों बढ़ी।

दैव मेरे भाग्य में है क्या बदा

मैं बचूँगी या मिलूँगी धूल में

या जलूँगी गिर अंगारे पर किसी

चू पड़ूँगी या कमल के फूल में।

बह गई उस काल कुछ ऐसी हवा

वह समुंदर ओर आई अनमनी

एक सुन्दर सीप का मुँह था खुला

वह उसी में जा पड़ी मोती बनी।

लोग यों ही हैं झिझकते सोचते

जबकि उनको छोड़ना पड़ता है घर

किंतु घर का छोड़ना अक्सर उन्हें

बूँद लौं कुछ ओर ही देता है कर।

- अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (१८६५-१९४७)

नंदू की छींक

आई एक छींक नंदू को,

एक रोज वह इतना छींका,

इतना छींका, इतना छींका,

इतना छींका, इतना छींका,

सब पत्ते गिर गए पेड़ के

धोखा उन्हें हुआ आँधी का।

- राम नरेश त्रिपाठी (१८८९-१९६२)

हिमालय

खड़ा हिमालय बता रहा है

डरो न आँधी पानी में,

खड़े रहो अपने पथ पर

सब कठिनाई तूफानी में!

डिगो न अपने प्रण से तो —

सब कुछ पा सकते हो प्यारे!

तुम भी ऊँचे हो सकते हो
छू सकते नभ के तारे!!

अचल रहा जो अपने पथ पर

लाख मुसीबत आने में,

मिली सफलता जग में उसको

जीने में मर जाने में!

सोहन लाल द्विवेदी (१९०६-१९८८)

अगर मगर

अगर मगर दो भाई थे,

लड़ते खूब लड़ाई थे।

अगर मगर से छोटा था,

मगर अगर से खोटा था।

अगर मगर कुछ कहता था,

मगर नहीं चुप रहता था।

बोल बीच में पड़ता था,

और अगर से लड़ता था।

अगर एक दिन झल्लाया,
गुस्से में भरकर आया।

और मगर पर टूट पड़ा,

हुई खूब गुत्थम-गुत्था।

छिड़ा महाभारत भारी,

गिरीं मेज-कुर्सी सारी।

माँ यह सुनकर घबराई,

बेलन ले बाहर आई!

दोनों के दो-दो जड़कर,

अलग दिए कर अगर-मगर।

खबरदार जो कभी लड़े,

बंद करो यह सब झगड़े।

एक ओर था अगर पड़ा,

मगर दूसरी ओर खड़ा।

- निरंकार देव सेवक (१९१९-१९९४), साभार: बालसखा, मई, 1946, 169

एक शहर है चिकमंगलूर
यहाँ बहुत से हैं लंगूर

एक बार जब मियाँ गफूर

खाने गए वहाँ अंगूर

बिल्ली एक निकल आई

वह तो थी उनकी ताई

कान पकड़ कर पटकी दी

जै हो बिल्ली माई की।

- निरंकार देव सेवक (१९१९-१९९४),

सैर सपाटा

कलकत्ते से दम दम आए,

बाबू जी के हम-दम आए!

हम वर्षा में झम-झम आए,

बर्फी, पेड़े, चमचम लाए!

खाते-पीते पहुँचे पटना,

पूछो मत पटना की घटना!

पथ पर गुब्बारे का फटना,

ताँगे से बेलाग उलटना!

पटना से हम पहुँचे राँची,

राँची में मन-मीरा नाची!
सबने अपनी किस्मत जाँची,

देश-देश की पोथी बाँची!

राँची से आए हम टाटा,

सौ-सौ मन का लोहा काटा!

मिला नहीं जब चावल-आटा

भूल गए हम सैर-सपाटा!

आरसी प्रसाद सिंह (१९११-१९९६), साभार: नंदन, जुलाई 1994, 32

रंग-रंग का खाना

आज रात बिस्तर में लेटे

सोचा मैंने ध्यान लगाकर,

कितने रंग की चीजें खाईं

मैंने दिन भर मँगा-मँगाकर।

श्वेत रंग का दूध पिया था,

पीला मक्खन साथ लिया था।

फिर थे लाल संतरे खाए,
रंग-बिरंगे सेब चबाए।

आइसक्रीम गुलाबी चाटी,

भूरी चाकलेट भी काटी।

पेट भरा था हरी मटर से,

और लाल-लाल गाजर से।

मैंने इतना सब था खाया,

पेट अचानक फटने आया।

अगर कहीं सचमुच जाता फट,

इंद्रधनुष बाहर आता झट!

- कामिनी कौशल (जन्म १९२७)

कितनी अच्छी कितनी प्यारी

सब पशुओं में न्यारी गाय,

सारा दूध हमें दे देती

आओ इसे पिला दें चाय।

शेरजंग गर्ग (जन्म १९३७)

हमारी समस्याएँ

हिन्दी के अधिकांश बाल साहित्यकर्मी मुख्यधारा विमर्श से उपेक्षित हैं। इस उपेक्षा का कारण भी विचित्र लगता है। वह है इसे जानबूझ कर हाशिये पर डाल देना। एक विचार यह भी आता है कि बच्चों की कविताएँ केवल बच्चों को लिखनी चाहिए। बच्चों का साहित्य बच्चों द्वारा लिखा होना चाहिए। एक एनजीओ ऐसा कर भी रही हैं। देखा जाय तो यह उसी बात का विस्तार है कि दलित कविताएँ केवल दलित लिखें, नारी विमर्श केवल नारी, प्रवासी विमर्श केवल प्रवासी। कहने का आशय यह है कि विषय मिलते ही पहला काम उसे कुछ ऐसी

जातिवाचक संज्ञा देना जिससे कुछ बातें थोपी जा सकें, भले ही विषय अपने मूल स्वरूप में कितना कुछ हो।

ऐसे संज्ञापरक विमर्श में समस्या है कि आप किसी से संवाद नहीं कर सकते। क्योंकि बच्चे से बात करने के लिए आपको बच्चा होना होगा, स्त्री से बात करने के लिए आपको स्त्री होना होगा, युवा से बात करने के लिए आपको युवा होना होगा (यह सबसे सरल है क्योंकि हिन्दी सभी चिरयुवा हैं), पुरस्कृत से बात करने ने लिए पुरस्कृत होना होगा (यह भी आसान ही है!) आदि आदि। लेकिन यह बात हम भूल जाते हैं कि इन जातिपरक संज्ञा के मूल में सामाजिक चित्त हैं जो भाषा और संस्कार अपने अर्थों मे गढ़ता है और हम संवाद कर पाते हैं। हम इस तरह किसी कोरियाई, अफ्रीकी से अनजाने में टकरा जाएँ जो हमारी भाषा न समझता हो और हम उनकी भाषा न समझते हों, तब भी हम इतना तो जानते हैं कि मनुष्य होने के नाते उसे भी भूख-प्यास लगेगी, अच्छा बुरा, मान सम्मान की उसकी अपनी समझ होगी भले ही वह समझ हम सुगमता से सम्प्रेषित न कर पाएँ।

ऐसे संज्ञापरक विभाजन का परिणाम है कि हमने अपने को बहुत बड़ा और वैचारिक समझ कर बाल साहित्य को हाशिये पर डाल रखा है। वह कुछ शोध का काम बन गया है। न हम बच्चों की तरह निश्चलता से अपनी कविताओं में हँसते हैं, न प्रफ्फुलित होते हैं।

मैं समझता हूँ हर कवि को सही अर्थों में मनुष्य होना चाहिए। मनुष्य की पहचान है सुख-दु:ख का संवेदन। उसके विकास की चरम अवस्था है कि वह सुख-दु:ख के संवेदन को अपने अन्त:करण में जड़े न जमाने दे। एक परिपक्व और सच्चे मनुष्य की पहचान है बच्चों जैसी निश्चलता। हम अगर यह संवेदन खो चुके हैं तो निश्चित ही मनुष्य कहलाने के योग्य नहीं हैं। अपने एकांत में ही सही, उड़ते फिरते रहें तितली बन के। वे दिन आज से बहुत अधिक अलग नहीं - वहाँ फिरते थे हम फूलों में पड़े, जहाँ ढूँढते सब हमें छोटे बड़े, थक जाते थे हम कलियाँ चुनते!

अगर शिकायत यह है कि बाल कविताएँ की जान तुकबंदी में अटकी है, तो आइए बदलिए। आपको लगता है कि बच्चों की कहानियाँ पंचतंत्र की छाया से मुक्त नहीं हो पाई हैं और आपको यह नहीं पसन्द आता; अगर आपकी आपत्ति इसमें है कि 'सिण्डरेला' और 'स्नो वह्वाइट' की कहानियाँ बाल मन पर प्रतिकूल प्रभाव डाल रही है, तो सभी कवियों-लेखको से अनुरोध है कि इसे विधा पर ध्यान दीजिए। इसके लिए आपको कोई पुरस्कार न मिले, लेकिन यही किसी भी सृजनात्मक व्यक्तित्व के लिए सबसे बड़ी चुनौती है कि वे स्वयं को सिद्ध करें। और यह स्वीकार करने में हमें संकोच नहीं होना चाहिए कि अधिकतर नामचीन हस्तियों की न इसमें रुचि है, न कोई सरोकार। हमारा संकोच ही हमारा पाखण्ड है कि हम समकालीन चुनौतियों की कलियाँ चुनते-चुनते इतने थक चुके हैं कि अब सुस्ता के सोशल मीडिया पर सस्ता विमर्श कर के दिन गुजार रहे हें।

****

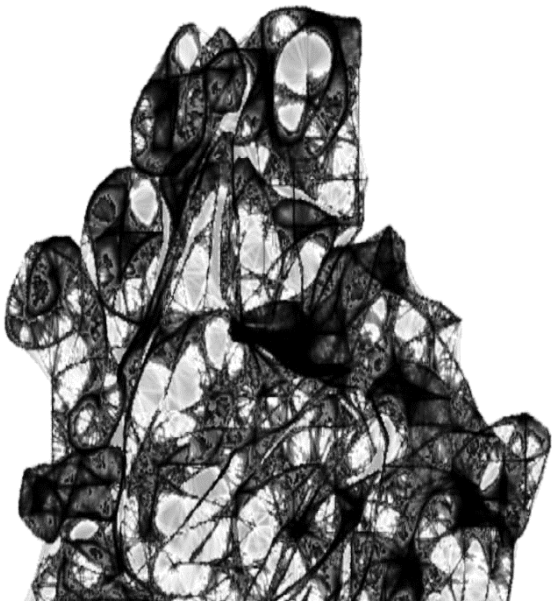

जो कुछ है बेतरतीब मेरा - तस्लीमा नसरीन की तीन कविताएँ

अनुवाद - सुलोचना वर्मा

विख्यात बाँग्ला लेखिका तस्लीमा नसरीन का आज जन्मदिन है। इस अवसर पर हम उनकी तीन कविताएँ बधाई और शुभकामनाओं के साथ प्रकाशित कर रहे हैं, जिनका अनुवाद सुपरिचित कवि और अनुवादक सुलोचना वर्मा ने किया है। इन कविताओं के लिए अनुनाद तस्लीमा नसरीन और सुलोचना वर्मा का आभारी है।

प्रेम

यदि मुझे काजल लगाना पड़े तुम्हारे लिए,

बालों और चेहरे पर लगाना पड़े रंग ,

तन पर छिड़कना पड़े सुगंध,

सबसे सुन्दर साड़ी यदि पहननी पड़े,

सिर्फ तुम देखोगे इसलिए माला चूड़ी पहनकर सजना पड़े,

यदि पेट के निचले हिस्से के मेद,

यदि गले या आँखों के किनारे की झुर्रियों को कायदे से छुपाना पड़े,

तो तुम्हारे साथ है और कुछ, प्रेम नहीं है मेरा |

प्रेम है अगर तो जो कुछ है बेतरतीब मेरा

या कुछ कमी, या कुछ भूल ही, रहे असुन्दर, सामने खड़ी हो जाऊँगी,

तुम प्यार करोगे |

किसने कहा कि प्रेम खूब सहज है, चाहने मात्र से हो जाता है !

इतने जो पुरुष देखती हूँ चारों ओर, कहाँ, प्रेमी तो नहीं देख पाती !!

व्यस्तता

मैंने तुम्हारा विश्वास किया था, जो कुछ भी था मेरा सब दिया था,

जो कुछ भी अर्जन-उपार्जन !

अब देखो ना भिखारी की तरह कैसे बैठी रहती हूँ!

कोई पीछे मुड़कर नहीं देखता।

तुम्हारे पास देखने का समय क्यों होगा! कितने तरह के काम हैं तुम्हारे पास!

आजकल तो व्यस्तता भी बढ़ गई है बहुत।

उस दिन मैंने देखा वह प्यार

न जाने किसे देने में बहुत व्यस्त थे तुम,

जो तुम्हें मैंने दिया था।

आँख

सिर्फ़ चुंबन चुंबन चुंबन

इतना चूमना क्यों चाहते हो?

क्या प्रेम में पड़ते ही चूमना होता है!

बिना चुंबन के प्रेम नहीं होता?

शरीर स्पर्श किये बिना प्रेम नहीं होता?

सामने बैठो,

चुपचाप बैठते हैं चलो,

बिना कुछ भी कहे चलो,

बेआवाज़ चलो,

सिर्फ़ आँखों की ओर देखकर चलो,

देखो प्रेम होता है कि नहीं!

आँखें जितना बोल सकती हैं, मुँह क्या उसका तनिक भी बोल सकता है!

आँखें जितना प्रेम समझती हैं, उतना क्या शरीर का अन्य कोई भी अंग समझता है!

मूल पाठ

प्रेम

---तसलिमा नासरिन

যদি আমাকে কাজল পড়তে হয় তোমার জন্য ,

চুলে মুখে রং মাখতে হয়,

গায়ে সুগন্ধী ছিটোতে হয়,

সবচেয়ে ভালো শাড়িটা যদি পড়তে হয়,

শুধু তুমি দেখবে বলে মালাটা চুড়িটা পড়ে সাজতে হয়,

যদি তলপেটের মেদ,

যদি গলার বা চোখের কিনারের ভাঁজ কায় দা করে লুকোতে হয়,

তবে তোমার সঙ্গে অন্য কিছু, প্রেম নয় আমার।

প্রেম হলে আমার যা কিছু এলোমেলো,

যা কিছু খুঁত,যা কিছুই ভুলভাল অসুন্দর থা ক, সামনে দাঁড়াবো,

তুমি ভালবাসবে।

কে বলেছে প্রেম খুব সহজ, চাইলেই হয়!

এত যে পুরুষ চারিদিকে, কই, প্রেমিক তো দেখি না!

ব্যস্ততা

তোমাকে বিশ্বাস করেছিলাম, যা কিছু নি জের ছিল দিয়েছিলাম,

যা কিছুই অর্জন-উপার্জন !

এখন দেখ না ভিখিরির মতো কেমন বসে থাকি !

কেউ ফিরে তাকায় না।

তোমার কেন সময় হবে তাকাবার ! কত র কম কাজ তোমার !

আজকাল তো ব্যস্ততাও বেড়েছে খুব।

সেদিন দেখলাম সেই ভালবাসাগুলো

কাকে যেন দিতে খুব ব্যস্ত তুমি,

যেগুলো তোমাকে আমি দিয়েছিলাম।

চোখ

খালি চুমু চুমু চুমু

এত চুমু খেতে চাও কেন?

প্রেমে পড়লেই বুঝি চুমু খেতে হয়!

চুমু না খেয়ে প্রেম হয় না?

শরীর স্পর্শ না করে প্রেম হয় না?

মুখোমুখি বসো,

চুপচাপ বসে থাকি চলো,

কোনও কথা না বলে চলো,

কোনও শব্দ না করে চলো,

শুধু চোখের দিকে তাকিয়ে চলো,

দেখ প্রেম হয় কি না!

চোখ যত কথা বলতে পারে, মুখ বুঝি তার সামান্যও পারে!

চোখ যত প্রেম জানে, তত বুঝি শরীরের অন্য কোনও অঙ্গ জানে!

***

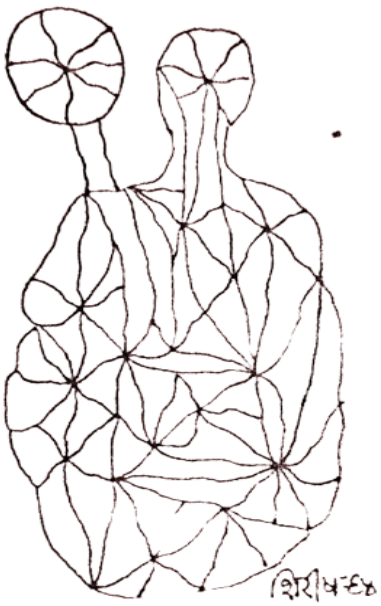

उन सपनों को पूरा करने की चाह में

विजय विशाल की कविताएँ

कवि ने कहा

वस्तुतः लेखक होने से पहले मैं स्वयं को एक सजग पाठक के रूप में देखता हूँ। एक सजग पाठक ने मेरे व्यक्तित्व को एक सजग नागरिक बनाने में मदद की है। इसी के चलते यह समझ परिपक्व हुई है कि हमारे जीवन के हर हिस्से को राजनीति केवल प्रभावित ही नहीं करती अपितु नियंत्रित भी करती है। इस राजनीतिक चेतना से यह लाभ हुआ कि समाज को देखने, समस्या को जानने तथा साहित्य की सीमाओं को समझने में अपना एक दृष्टिकोण जरूर विकसित हुआ है।

अपने इसी दृष्टिकोण के कारण कई साहित्यिक मित्र मुझे विचारधार का कवि कहते भी है और मानते भी हैं। मेरा भी यह मानना है कि साहित्यिक रचना के माध्यम से व्यक्त होने वाले किसी भी अनुभव में विचारधारा एक आधारभूत आयाम के रूप में होती है और रचना के मूल्यांकन में इस आयाम का महत्वपूर्ण स्थान होता है। दूसरा यह कि एक ही प्रकार की विचारधारा के आधार पर ऐसी रचनाएं दी जा सकती हैं जो बौद्धिक क्षमता, संवेदन-शक्ति और अभिव्यक्ति माध्यम पर अधिकार की दृष्टि से एक दूसरे से काफी भिन्न हो।

हर लेखक/कवि के पास अपने यथार्थजन्य अनुभव होते हैं, जो वस्तुतः लेखन के लिए उसकी पूंजी होती है। जब स्थितियों-परिस्थितियों से जूझते हुए ये अनुभव व्याकुल कर देते हैं तो इस आंतरिक व्याकुलता से मुक्ति पाने के लिए कुछ न कुछ लिख देता हूँ। लिखना मेरे लिए दरअसल अपने को मुक्त करने का, अपने दिल की गांठें खोलने का माध्यम है। साथ के साथ अपनी बेचैनियों को व्यक्त करने का साधन भी है।

सुरंग का भूगोल

वह एक अंधेरी सुरंग थी
और हम जा रहे थे उस पार
हमें बता दिया गया था
कि सुरंग के पार
सुंदर घाटी है
जहां सुख का सूरज उगता है।
एक भयंकर अंधेरी सुरंग से
हम जा रहे थे
उस सुंदर घाटी की खोज में
सुख के सानिध्य में
जीवन को सुखी करने
हम जा रहे थे।

हालांकि सुरंग के उस भयावह अंधेरे में
हम एक अज्ञात भय से डरे हुए थे
जैसे बलि से पहले
वध-स्थल की ओर जाते हुए डरता है पैहरु।

यह डर हमारा भ्रम था
या हम सचमुच डरे हुए थे
साफ-साफ कुछ नहीं कह सकते
मगर इस यात्रा में सपने ही हमारा संबल थे।
उन सपनों को पूरा करने की चाह में
हम जा रहे थे।

बुजुर्गों का कहना है
हमारे पुरखे भी गुजरे हैं
ऐसी ही कई सुरंगों से
अपने सपनों की तलाश में।

एक के बाद दूसरी सुरंग
अंतहीन सिलसिला है यह सुरंगों का
हर सुरंग के मुहाने में दिखती है रौशनी
फिर धीरे-धीरे बढ़ता जाता है अंधकार

सुरंग में भी और हमारे मन में भी।
सदियों से ऐसे ही चलते जा रहे हैं हम
पीढ़ी दर पीढ़ी।
कई भयावह अंधेरी सुरंगें
पार की हैं हमने
उस सुंदर घाटी की तलाश में।

सुरंग के अंधेरे के खौफ का
अपना अलग चेहरा होता है
प्रकाश के खौफ से अलहदा
अंधेरे का खौफनाक चेहरा।

इस अंधेरे में
मौत का भय नहीं है
थकान के बीच
चलते रहने की जिद्द है।
इस खौफनाक मंज़र में
भूख कम, प्यास ज्यादा लगती है।
हमें बताया गया है
सुरंग के पार
मीठे पानी के चश्मे हैं
इन्हीं चश्मों की तलाश में
सदियों से जा रहे है हम।

अपनी इस लम्बी यात्रा में
हम सुरंगों के भूगोल के ज्ञानी होते जा रहे हैं
घूप्प अंधेरे में टटोलते हैं
अपने-अपने हाथ-पांव।
साथ चलते हमराहियों को
देते हैं दिलासा-
धीरज रखो-धीरज रखो
धीरे-धीरे चलते रहो।
वह देखो हम पहुँच रहे हैं
सुरंग के मुहाने पर,
खत्म होने जा रहा है
सुरंग का भयावह अंधेरा।

गहरी धंसी जड़ें

उन्होंने
बालपन से देखा है
बड़े-बुजुर्गों को
देवता की देहरी पर
नाक रगड़ते,
कभी देवता से बतियाते,
कभी झगड़ा करते
तो कभी मन्नत मांगते।

उनके जीवन में
चारों तरफ वैसे ही पसरा है देवता
जैसे हवा में हरदम
मौजूद रहते हैं वाष्पकण
जो बादलों में तबदील होते ही
कभी प्यास बुझाते हैं
तो कभी बाढ़ लाते हैं।

वे इतना डरते हैं देवता से
कि जीवन में किसी भी शुरुआत से पहले
मांगते हैं इजाजत
फसल बीजने से लेकर
घर की नींव रखने तक,
शादी-ब्याह, जीवन-मरण
हर जगह हस्तक्षेप करता है देवता।

वैसे उनके हिस्से में
अनेक देवता हैं
जिनसे सुबह-शाम वास्ता रहता है उन्हें।

कुल देवता से शुरू हुआ
यह सिलसिला
ग्राम देवता से होता
इलाके के अधिष्ठाता देव तक
वैसे ही जाता है जैसे

लोकतंत्र में ग्राम पंचायत वार्ड मेम्बर से
शुरू होकर
पंचायत प्रधान, विधायक से होते हुए सांसद तक
जाता है।

विपदा में वे
देवता को बुलाते हैं घर-द्वार
ब्यान करते हैं उससे दुःख-दर्द
और चाहते हैं हल
विपदा के टलने-टलाने का।
गर कभी मिले कोई खुशी
तो उसे बांटने
सबसे पहले
जाते हैं देवता के ही द्वार
उसका आभार जताने।

हालाँकि एक पहलू यह भी है
कि इसी देवता की आड़ में
देव-संस्कृति के नाम पर
लहलहा रहीं है
कई बुराइयों की फसलें।
जातीय भेदभाव को तर्कसंगत बताने में
हर बार आगे कर दिया जाता है देवता।
शोषित नवाजते हैं सिर
चाहते हैं
सदियों से पैरों में पड़ी
दासता की बेड़ियों से मुक्ति
पर इस जन्म में नहीं
अगले जन्म में।

देवता हरबार कबूलता है उनकी अरदास
बरसते हैं फूल
गूँजते हैं जयघोष
शोषित बजाते हैं नगाड़े और तुरही
गहरे तक धंसी
देव संस्कृति की जड़ें
और गहरी हो जाती हैं।

दूर कहीं चीत्कार लगता है
अपने घोंसले की राह से भटका
कोई पंछी
शाम के धुंधलके में।

गोद लिये गाँव

जिसने कभी
नवजात
न लिया हो गोद में
उसने
साथियों से कहा
"आओ गोद ले लें
एक-एक गाँव।"

साथियों ने
अपने-अपने चुनाव क्षेत्र में ढूंढे
ऐसे नवजात गाँव
जो पहुँच में होने के साथ-साथ
वजन में हल्के हों
जिन्हें गोदी में उठाकर
घुमाया जा सके देश भर में।

गोद में बैठते
गाँव
वैसे ही प्रसन्न हुए
जैसे आंगनबाड़ी केंद्र में
प्रसन्न होते हैं बच्चे
मनमाफिक कुछ खाने को मिलते ही।

गोद लेने की घोषणा के साथ
नापी गई
गाँव की देह
ताकि सिलवाये जा सकें

साफ-सुथरे नए फैशनेबल कपड़े।

गाँव के पाँव का
लिया गया पूरा-पूरा माप
जिससे बनवाये जा सकें
आरामदेह चमकीले जूते
ताकि आसानी से दौड़ा जा सके
विकास पथ पर।

गाँव का मुरझाया चेहरा
चमकाने को
बुलाये गए एक्सपर्ट ब्यूटीशियन
ताकि भाग लिया जा सके
ग्लोबल ब्यूटी कम्पीटिशन में।

इस सारी कवायद में
गोद लेने वालों की
जयजयकार हुई
फूलमालाओं से सुशोभित हुए
उनके गले।

कई दिन
मीडिया में चर्चा चली
अखबारों में गाँव की फोटो छपी।

गोद लेने वाले
शीघ्र लौटने का वायदा कर
गले मिल कर गए
गाँव वालों से।

गोद लिए गाँव
तब से ताक रहे हैं
उनके लौटने की राह
अपने नए कपड़े
जूते और ब्यूटीशियन के इंतजार में।

कारोबार

वे जानते हैं
आपदा को अवसर में
बदलने की कला।
वे
आपदा पैदा करने की कला भी
बाखूबी जानते हैं।

इसी कला के चलते
पहले उन्होंने
रोटी पर कब्जा किया
फिर भूख पैदा करने निकल गए।

भूख की खेती करते
उनके हाथ लगी पानी की फसल
उन्होंने
पानी पर कब्जा किया
और प्यास पैदा करने निकल गए।

भूख और प्यास की फसल
जब खूब लहलहाने लगी
तो उनकी नजर से हवा भी बच न सकी।
उन्हें लगा
हवा भी शामिल होनी ही चाहिए कारोबार में।

तब उन्होंने ऑक्सीजन प्लांट लगाए
वेंटिलेटर बनाये
फिर ऑक्सीजन और वेंटिलेटर की जरूरत
पैदा करने निकल गए।

चींटियां शोर नहीं करती

चींटियां जब निकलती हैं
तो अक्सर एक साथ
असंख्य निकलती हैं

कतारबद्ध हो ऐसे चलती हैं
जैसे सेना कूच कर रही हो
एक पड़ाव से दूसरे पड़ाव।

चींटियों का कतारबद्ध चलना
सेना के अभ्यास से कम नहीं होता
मगर चींटियां सैनिक नहीं होती।

एक साथ-एक जगह
इकट्ठा होने पर भी
चींटियां शोर नहीं करती
न जुबान से
न कदमों की थाप से।

चींटियां खींच लाती हैं
खुद से पांच-दस गुना बड़े शरीर वाले
किसी मरे हुए कीट की देह को
और रख देती हैं सुरक्षित
अपने बिम्बों के भीतर
दुर्भिक्ष के दिनों के लिए।

आकार में छोटी चींटियों से
डरते हैं विशालकाय हाथी भी
हाथियों का चींटियों से यूँ डरना
चींटियों की जीवन्तता का प्रमाण है।
***

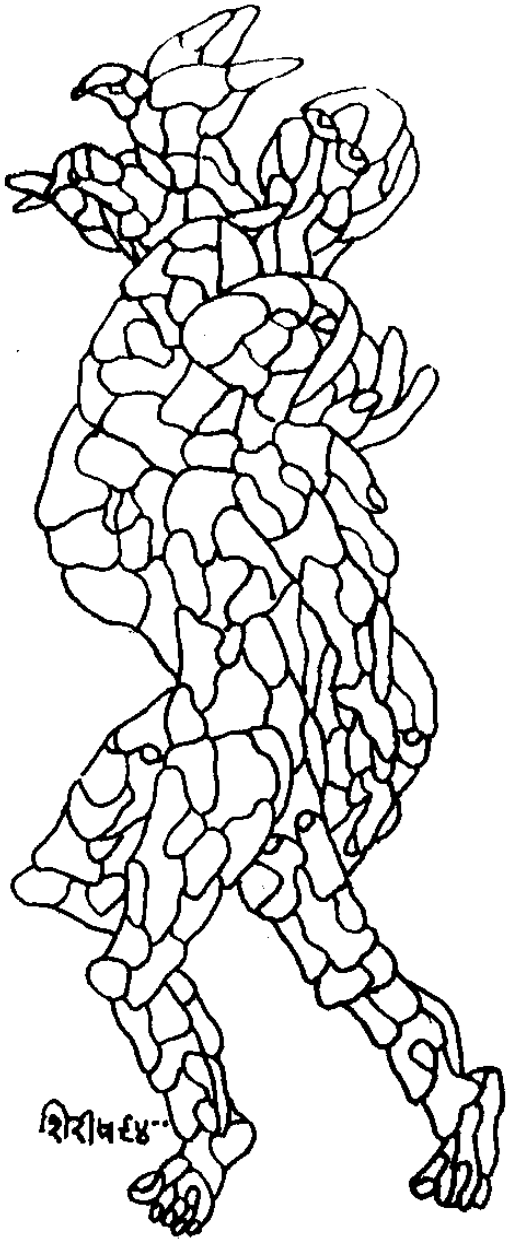

सभी जाएँगे मुझको भूल

विष्णु खरे की कविता पर विशाल श्रीवास्तव का लेख

विष्णु खरे हिन्दी कविता के इलाक़े में हुई बहुत बड़ी हलचल का नाम है। कितनी ही उथलपुथल उनके नाम दर्ज़ हैं। विवादों में बदलते हुए संवाद और विवादों के बहाने किसी संवाद को जन्म देने की दुर्बोध-सी एक आकांक्षा उनके चेहरे पर सदा दिखाई देती रही। सही-ग़लत को बहुत स्पष्ट कहने वाले वे दुर्लभ वरिष्ठ कवि थे। उनके जाने से कविता और उस पर चलने वाली बहसों में बौद्धिक तीक्ष्णता निश्चित ही बहुत कम हो गई है। युवा कवि विशाल श्रीवास्तव ने इधर उस दुर्जेय मेधा की कविता को समझने-समझाने के सिलसिले में एक शानदार हस्तक्षेप किया है। विशाल का यह लेख इलाहाबाद से निकलने वाली महत्वपूर्ण पत्रिका **अनहद** में प्रकाशित हुआ है। इस लेख के लिए अनुनाद लेखक और अनहद के सम्पादक संतोष चतुर्वेदी का आभारी है।

एक असम्भव शिल्प से मूर्त होता प्रतिसंसार

मेरी चिता पर नहीं होंगे किसी के
अश्रु, स्मृति में चढ़ाए फूल
बाद दो दिन के दिखावे के, रोने के,
सभी जाएँगे मुझको भूल
क्या हुआ जो सिरफिरा इक मर गया?
जगत के आनन्द में कम क्या कर गया।

(विष्णु खरे की 'मौत और उसके बाद' शीर्षक कविता से, जिसे उनकी पहली कविता भी कहा जाता है)

कुछ लोगों को याद करते समय दिक्कत यह होती है कि उन्हें उनके विविध और एकसमान रूप से सफल आयामों में से किस सन्दर्भ में याद किया जाय। विष्णु खरे कवि, पत्रकार, सम्पादक, आलोचक, संगीतप्रेमी, फिल्म समीक्षक, अनुवादक जैसे विविध रूपों में हिन्दी की दुनिया को समृद्ध कर रहे थे। इन सभी क्षेत्रों में जो उन्होंने किया वह वैसा ही या उसके आस-पास भी कर पाना अन्य किसी के लिए सम्भव नहीं है।

उनके कविरूप की बात करें तो वे हिन्दी कविता में जिस काव्यभाषा को लेकर आए, वह एकदम अनोखी थी। जैसा कि बार-बार आसानी से उनकी काव्यभाषा के बारे में कह दिया जा रहा है 'गद्यात्मकता', वह महज उतना भर नहीं है। गद्य को कविता में ऐसे बरतना कि वह न सिर्फ बहुत महीन बातों को कायदे से रेखांकित भी करे बल्कि अपनी शक्ति से एक उदात्त करुणा का सृजन भी सम्भव बनाए, यह उनकी भाषा की वास्तविक विशेषता है। वे कई बार अपनी कविताओं की दुरूहता से चुनौती देते से लगते हैं, उनके भारी-भरकम शब्द किसी गरजते हुए बादल की तरह अपने मन्द्र स्वर में कविता में दाखिल होते हैं, किन्तु कविता में उनका प्रभाव अनूठा है। वे ऐसी कविताएँ नहीं लिखते थे न ऐसी कविताओं के कायल ही थे, जिनको पढ़ते या सुनते ही तुरन्त आह या वाह जैसा कुछ सम्भव हो सके। उनकी कविताएँ अपने विवरणों में, अपने विस्तार में, अपनी दुरूह सी प्रतीत होती हुई विशिष्ट सहजता में विचलित करने वाली, बेचैन करने वाली कविताएँ हैं।

अगर किसी एक ओर से उनके वृहत काव्यसंसार में प्रवेश की कोशिश की जाय तो उनकी कविताओं में मिथकों के अभूतपूर्व इस्तेमाल से शुरुआत की जा सकती है। वे अपनी एक कविता में ही लिखते हैं **कहीं से भी उठाओ महाभारत को/मस्तिष्क सैकड़ों टुकड़े करने वाले कथन दिखायी देते हैं**। उन्हें याद करते हुए अशोक वाजपेयी ने भी लिखा है कि **हालांकि उनकी छवि विद्वान् की नहीं रही, किन्तु विष्णु इतिहास, पुराण आदि के गहन अध्येता थे. उन्होंने महाभारत या मुगलकालीन इतिहास से जो प्रसंग चुने हैं अपनी कविता में, वे हिंदी तो क्या भारतीय कविता में उनसे**

पहले प्रायः अछूते रहे। अशोक वाजपेयी का यह कथन विष्णु खरे द्वारा मिथकों पर केन्द्रित विभिन्न कविताओं के उदाहरणों से पुष्ट होता है। वे परम्परा और संस्कृति के एक गम्भीर अध्येता थे, यही कारण है कि मिथकों का ऐसा शक्तिपूर्ण और सार्थक उपयोग वे अपनी कविता के मुहावरे में कर पाये। उदाहरण के लिए 'वृन्दावन की विधवाएँ' शीर्षक कविता में वे लिखते हैं:

वृन्दावन की पहली विधवाएँ
तब स्वीकार कर चुकी होंगी अपने वैधव्य को
अपनी मृत्यु और कृष्ण के परमधाम गमन को
किन्तु उन्होंने फिर कहा होगा हाँ हमने कल ही देखा था
कृष्ण को कालिन्दी के तट पर काम्यवन में'।

अब इस कविता में वृन्दावन और कृष्ण के मिथक का बखूबी इस्तेमाल करते हुए वे समकालीन समाज में वैधव्य के जीवन का मिथकीय परम्परा से ऐसा मार्मिक जुड़ाव सम्भव करते हैं, जिससे समय का खुरदरा यथार्थ अपनी सम्पूर्णता में प्रतिबिम्बित होता है। महाभारत उनके प्रिय विषयों में रहा है, भारतीय परम्परा की अन्य कथाओं को उतना प्रयोग उन्होंने नहीं किया है, इसका कारण यह है कि वे जीवन की जिस जटिलता, चरित्रों की जिन सीमाओं और मानवीय कमज़ोरियों के जिन रूपों के प्रति आकर्षित थे, उनका असीम विस्तार महाभारत की कथा में उपलब्ध है। उनके संग्रह 'काल और अवधि के दरमियान' में संकलित एक कविता 'अग्निरथोवाच' जो अर्जुन के अग्निरथ की ओर से लिखी गयी है, महाभारत का युद्ध, जो कृष्ण की वाणी में धर्मयुद्ध के रूप में संज्ञायित किया गया था, के वास्तविक और कड़वे यथार्थ को उद्घाटित करती है:

क्या क्या नहीं किया क्षेत्रज्ञ ने क्षेत्र में
भाइयों और स्वजनों के बीच रण हुआ सो हुआ
बूढ़ों को मारा गया गुरु हत्याएँ हुईं
दबे स्वरों में झूठ बोले गये कुश पर सब कुछ त्याग बैठे आसीनों को छला गया
जिसने शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा की उसने चक्र उठाया
भुजाएँ काटी गयीं नर रक्त पिया गया
रथ से उतरे विपदाग्रस्त विनयी महारथी का शिरोच्छेद हुआ
जाँघ पर गदायुद्ध में किया गया प्रहार
मरे हुए वीरों के मस्तक पर पैर रगड़े गये
नपुंसकों तक का वध हुआ।

यह कविता केवल महाभारत के युद्ध में रणक्षेत्र में हुए अधर्म तक सीमित नहीं रहती बल्कि युद्ध की विभीषिका के प्रभावों को भी वर्णित करती है। न केवल वृद्धों, बच्चों और स्त्रियों की दुरवस्था के बारे में ही यह कविता बात करती है, बल्कि साथ ही समाज का वह साधारण श्रमिक वर्ग भी इसकी चिंता के दायरे में आता है, जो युद्ध के कारण भुखमरी का शिकार है। एक लोकप्रिय मिथक के प्रचलित और स्थापित पाठ को चुनौती देती हुई यह कविता युद्ध की अप्रासंगिकता और उसके पक्ष में बोले जाने वाले झूठ को बेनकाब करती है। महाभारत के ही एक प्रसंग पर उनकी कविता **अंततः** उनके संग्रह **पाठांतर** में संकलित है, जो युधिष्ठिर और शरशय्या पर लेटे भीष्म के संवाद पर केन्द्रित है। सम्राट युधिष्ठिर दान-धर्म के विषय में जानने के लिए भीष्म के सम्मुख हैं और भीष्म कहते हैं:

राजा के राज्य और उसकी लक्ष्मी का
सताये हुए दरिद्र विनाश कर देते हैं
पापी है वह नरेश जो भूख से बिलखते बच्चों के सामने स्वादिष्ट भोजन करता हो
जहाँ विद्वान और दूसरे जन भूख से कष्ट पाते हों
वह भूपति भ्रूणहत्या और उससे बड़े पापों का भागी होगा
और धिक्कार है उसके जीवन को

यह कविता यहीं रुकती नहीं बल्कि अन्यायी राजा को पागल और बीमार कुत्ते की तरह जनता द्वारा मार डालने के परामर्श तक जाती है। कवि अंतिम पंक्तियों में भीष्म द्वारा बताये इस समाधान को आज भी प्रामाणिक और अपरिहार्य मानता है। कविता में महाभारत के अनुशासन पर्व से श्लोक-पंक्तियों को भी उद्धृत किया गया है, जो शिल्प का एक अभिनव प्रयोग है। परम्परा से प्राप्त अर्थ को समकालीन राजनीति के मुहावरे में सिद्ध करने की ओर यह कविता बढ़ती है, यह विष्णु खरे की विशेषता है और काव्यात्मक उपलब्धि भी कि वे कितने अपूर्व कौशल से मिथकों की सीवन बारीकी से उधेड़ते हैं और उसकी छिपी हुई परतों को खोलकर हमारे सामने रख देते हैं। यह वे इतने निर्मम तरीके से करते हैं कि परम्पराओं की महानता की स्वीकृति का अभ्यस्त साधारण पाठक का मन विचलित हो जाता है लेकिन इस नये पाठ से संघर्ष करने और अपनी राह खोजने के लिए विवश भी होता है।

विष्णु खरे की कविताओं का एक अन्य आयाम उनकी कई कविताओं में मुक्तिबोधीय फैंटेसी का विस्तार है। मुक्तिबोध के बारे में यह कहा जाता है कि वे जीवन भर एक ही कविता लिखते रहे, एक कविता में जो छूट जाता था उसे दूसरी कविता में सिरे से पकड़ने की उनकी कोशिश लगातार चलती रही। कई आलोचक इसीलिए मुक्तिबोध को अधूरी कविताओं का कवि भी कहा करते हैं। विष्णु खरे अपने काव्यशिल्प में मुक्तिबोध से इस मामले में अलहदा हैं कि वे मुक्तिबोध की तरह अपनी कविताओं में सत्य का पीछा तो करते हैं, लेकिन उनकी तरह लय का साहचर्य थामे नहीं रहते। यही कारण है, कि उनकी कविताओं में एक मुश्किल गद्यात्मकता है। ब्यौरों के बारे में उनके भीतर एक दुर्निवार आकर्षण रहा है, इतना कि अंधेरे के बारे में लिखते हुए भी वे उस अंधकार के महीन विवरणों को पूरे कौशल के साथ दर्ज़ करते हैं। सृष्टि के तमस को वे उसके शुद्धतम रूप में पर्यवेक्षित करते हुए वर्णित करते हैं। इस वर्णन में जबरन कोई आशा की किरण बनाये रखने की जिद नहीं है, जो है उसका भयानक और वीभत्स स्वीकार करने में एक कवि के रूप में विष्णु खरे कोई परहेज नहीं करते। उदहारण के लिए उनकी एक कविता **अंधी घाटी** जो उनके संग्रह **पिछला बाकी** में संकलित है, से यह उद्धरण देखा जा सकता है:

जब वे सूर्य की बातें करते तो ऊपर अंगुलियां उठायी जातीं
टोलियाँ बनतीं और दबे स्वरों में मंत्रणा होती
किंतु सयानों का रुख बदला
और अब वे कहते हैं कि अंधी घाटी ही हमारा प्रारब्ध है
उजियाला नामक कोई वस्तु ही नहीं है और यदि है भी तो वह हमारे लिए खतरनाक साबित हो सकती है।

अंधेरे के बारे में ही बात करती हुई विष्णु खरे की एक और कविता है **तरमीम**, जो उनके कविता संग्रह **पाठांतर** में संकलित है। यह कविता अंधेरे को थोड़ा सकारात्मक तरीके से देखने की अपेक्षाकृत नयी बात कहती है। इस कविता में कवि बताता है कि किस तरह लगातार अंधेरे की उपेक्षा हुई है और उसके महत्व को दरकिनार किया गया है, यह कहते हुए कि: **अंधेरा न होता या सिर्फ वही होता/तो शायद उजाले की ज़रूरत न पड़ती**। कवि बताता है कि किस तरह प्रकाश के आने से अंधकार खत्म नहीं होता बल्कि उससे भी तीव्र गति से कहीं और चला जाता है या पुराना प्रकाश रुग्ण होकर नया अंधकार बन जाता है। यहाँ कवि की मुराद यह है कि अंधेरे को उसके असीम विस्तार के बाद भी मूल विषय न समझने की भूल संसार द्वारा की जाती रही है, इसलिए अंधकार को पूरी सत्ता दी जानी चाहिए:

प्रकाश के खिलाफ मेरे पास कुछ भी नहीं है
उसकी और उसके इस्तेमाल की गति
जैसी है वैसी रहे बढ़ सके तो और अच्छा
मेरा तुच्छ प्रस्ताव इतना सा है

कि अंधकार की जो अवमानना भरी उपेक्षा हुई है
उसे सुधार कर
उसे एक सम्पूर्ण सत्ता और विषय का दर्जा दिया जाए
यह मिटे न मिटे बाद की बात है

विष्णु खरे के काव्यसंसार की बुनावट में एक अहम हिस्सा दृश्यात्मकता का है। यह दृश्य हमारे ठीक आस-पास के हैं, वे बिल्कुल कल्पित नहीं है बल्कि उन्हें यदि अतियथार्थ की उपज कहा जाए तो अनुचित न होगा। बाज दफा यह सच्चाई बेहद नंगी, बेलौस और ज़रूरत से ज़्यादा रूखी भी नज़र आने लगती है। सबसे महत्वपूर्ण तो यह है कि इस दृश्यात्मकता में मौजूद कड़वे सत्य को देखता हुआ कवि विस्मित नहीं होता बल्कि उन दृश्यों को हमारे जीवन के संवेदनात्मक पक्ष से सम्बद्ध करने का प्रयास करता है। पहले यदि दृश्यात्मकता को केन्द्र में रखें तो उदाहरण के लिए **और अन्य कविताएँ** संग्रह में संकलित उनकी एक कविता है **कल्पनातीत,** जिसमें वे घास के मैदान में बकरियों के रेवड़ पर फड़फड़ाती तितलियों के दृश्य को ऐरावत को उठाये गरुड़ के बिम्ब के समानांतर देखते हैं। यह एक बेहद साधारण दृश्य है, लेकिन पीली तितलियों और बकरियों के माध्यम से जीवन में एक ऐसी कल्पनात्मकता का स्वप्न कवि रचता है, जो हिन्दी कविता में अपूर्व है:

पता नहीं कल सुबह मैं उठूँगा और ये रेवड़
यहाँ से गुजरेगा या नहीं
क्या बकरियों के आने के सपने देखती होंगी घास में सोयी तितलियाँ
जिस पर कल भी ओस होगी
प्रातः नभ होगा नीला शंख जैसा कि
सूरज को उतना ही ललछौंहा उगने को मिले
क्या आम की डगालों से पत्ते कल भी झरेंगे।

विष्णु खरे ने क्रिकेट के खेल पर कई कविताएँ लिखी हैं, उनमें से एक है **कवर ड्राइव** जो उनके संग्रह **सब की आवाज के पर्दे में** में संकलित है। यह कविता विष्णु खरे की कविता में मौजूद दृश्यात्मकता के तत्व का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। जिस तरह कवि क्रिकेट के एक शॉट का वर्णन करता है, उसकी बारीकियों को बताता है, उसके कलात्मक सौन्दर्य की चर्चा करता है और साथ ही खेल में उसकी सम्पूर्णता को स्थापित करता है, वह अद्भुत है। कवि के लिए यह सिर्फ़ एक शॉट नहीं रह जाता, बल्कि जीवन में एक कलात्मक सम्पूर्णता के विस्तार के रूप में अनुभव करता रहता है, इस अपूर्णता की कमी उसे भीतर ही भीतर मथती रहती है, तब भी जब वह अधेड़ हो चुका है और अब क्रिकेट का खेल उसके लिए किसी प्रतिष्ठा का प्रश्न नहीं रह गया है:

क्या रखा है सिद्ध करने में
कि जब भी उतरोगे ठीक-ठाक खेल ही लोगे
फिर भी किशोरों के रविवारी प्रैक्टिस मैच देखने रुके रहते हो
तटस्थ दिलचस्पी दिखाते हुए कि उनमें से कोई कहे किसी दिन
आइए अंकल खेलिए
और तुमसे अब भी एकाध बार पॉइंट का वह स्ट्रोक मुमकिन हो
जिसे तुम अब तक कल्पना और सपनों में
मुकम्मिल करते रहना नहीं छोड़ते नामालूम क्यों

विष्णु खरे ने साम्प्रदायिकता और अन्य वैश्विक त्रासदियों को बहुत गहराई से देखा है और यह हैरत में डालने वाली बात नहीं है कि वे इन विभीषिकाओं से उत्पन्न शोक की अभिव्यक्ति के मार्मिक प्रतीकों के रूप में शिशुओं को चुनते हैं। गुजरात दंगों पर केन्द्रित उनकी कविता **शिविर में शिशु** और आंतकवादग्रस्त सीरिया की शरणार्थी समस्या के प्रतीक रूप में **आलैन** कविता एक वृहत वृत्तान्त रचती हुई प्रतीत होती हैं। इनमें से एक कविता दंगों से झुलसते समय में शिविर में पैदा हुए कुछ शिशुओं के माध्यम से जीवन की मुस्कुराहट को

बचा लेने की कवि की इच्छा का बयान करती है तो दूसरी कविता में बेहतर जीवन की तलाश में शरण के लिए निकले परिवार के एक बहुत छोटे बच्चे के मृत शरीर को देखकर पैदा हुई संवेदना का आख्यान रचती है। **काल और अवधि के दरमियान** संग्रह में संकलित **शिविर में शिशु** कविता साम्प्रदायिक दंगों के तात्कालिक कारणों में नहीं जाती, वह राजनीतिक षड्यंत्रों की पड़ताल भी नहीं करती, बल्कि समकालीन विषमताओं में मनुष्यता के प्रतीक के रूप में शरणार्थी कैम्प में पैदा हुए शिशुओं की मुस्कुराहट को एक अनूठे बिम्ब के रूप में रचती है। यहाँ महत्वपूर्ण है कि विवरणों के बीच विडम्बना को कवि कैसे विन्यस्त करता है, कैसे यह कविता दंगों के ब्यौरों में न जाते हुए भी उस अमानुषिकता का एक सघन चित्र हमारे सामने रखती है, कैसे हम इस कविता को पढ़ते हुए मनुष्य होने के व्यर्थताबोध से भर उठते है, कवि कहता भी है:

इस देश मे उन तस्वीरों की किल्लत कभी नहीं होगी
जो तुम्हारा कलेजा चाक कर दें
शर्मिंदा और ज़र्द कर दें तुम्हें
तुम्हारे सोचने कहने महसूस करने की व्यर्थता का अहसास दिलाती रहें
लेकिन फिलहाल तुम्हारे सामने ये पन्द्रह मुस्कराते बच्चे हैं
जिनका एक दाँत अभी आया नहीं है

आलैन कविता विष्णु खरे के संग्रह **और अन्य कविताएँ** में संकलित है। इस बेहद मार्मिक कविता की नैरेटर मृत शिशु की मृतक माँ है जो उसके मृत भाई गालिब का हाथ पकड़कर उसे जगाने आई है। समुद्र किनारे मिले इस मृत शिशु का फोटोग्राफ पूरी दुनिया में मशहूर हुआ था, आधुनिक सभ्यता की विडम्बनाओं के एक गहरे दृश्य रूपक की तरह इस फोटोग्राफ को देखा गया। यह कविता एक नयी दुनिया की तलाश में एक परिवार की प्रसन्नतापूर्ण यात्रा से प्रारम्भ होती है, तो आगे चलकर एक त्रासदी में बदल गयी। आधुनिक जीवन के बड़े सत्यों में से एक है विस्थापन, जिसकी कोशिश में यह परिवार मृत्यु के आगोश में समा जाता है। इस कविता को पढ़ते हुए असगर वजाहत की कहानी **शाहआलम कैम्प की रूहें** याद आती है, जिसमें यतीम बच्चों को इन्तजार रहता है रात का कि उनके माँ बाप की रूहें उनके सिर पर हाथ फेरने आयेंगी। यह कविता भी बिना किसी बड़े राजनीतिक बयान के मार्मिकता का बड़ा प्रतीक गढ़ने में समर्थ होती है। एक मृत माँ का अपने छोटे से बच्चे को यह सम्बोधन हमारी सभ्यता के यथार्थ पर एक तमाचा जड़ता है। माँ का इस दुनिया से दूर चलने का आह्वान जैसे उनके पूर्व निर्धारित विस्थापन का एक नया और अप्रत्याशित आयाम है, जिसके आधार में केवल हताशा है, दुख है और इस दुनिया से एक विरक्ति का स्वर भी:

चल अब उठ छोड़ रेत के इस बिछौने को
छोड़ इन लहरों की लोरियों और थपकियों को
नहीं तो शाम को वह तुझे अपनी आगोश में ले जाएँगी
मिलें तो मिलने दे फूफी और बाबा को रोते हुए कहीं बहुत दूर
अपन तीनों तो यहीं साथ हैं न
छोड़ दे ख्वाब नये अजनबी दोस्तों और नामालूम किनारों के
देख गालिब मेरा दायाँ हाथ थामे हुए है तू यह दूसरा थाम
उठ हमें उनींदी हैरत और खुशी से पहचान
हम दोनों को लगाने दे गले से तुझे
आ तेरे जूतों से रेत निकाल दूँ
चाहे तो देख ले एक बार पलटकर इस साहिल उस दूर जाते उफक को
जहाँ हम फिर नहीं लौटेंगे
चल हमारा इन्तजार कर रहा है अब इसी खाक का दामन

मध्यवर्ग का शहरी जीवन विष्णु खरे की कविता का एक महत्वपूर्ण तत्व है। वे आज़ादी के बाद उपजते हुए

एक ऐसे मध्यवर्ग की पैदाइश थे, जो छोटे कस्बों में अपने उस तरह और वहाँ होने की चुनौतियों से जूझ रहे थे। मध्यवर्ग के जीवन का अत्यन्त सान्द्र चित्रण विष्णु खरे की कविताओं में है, जहाँ वे अपनी पूरी कलात्मकता से अभाव का तैलचित्र मद्धिम यथार्थ के रंगों से चित्रित करते हुए दिखते हैं। दृश्यों की व्यंजकता में एक अनूठा धीमापन जो कभी शाम की धीमी हवा सा रुक-रुक कर आगे बढ़ता है तो अचानक कभी किसी खास दिशा का रुख कर लेता है। यदि यह कहा जाये कि विष्णु खरे भारतीय कस्बाई मध्यवर्गीय जीवन के धूसर सौन्दर्य के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं, तो कदाचित यह गलत नहीं होगा। समकालीन कविता में कस्बाई जीवन का चित्रण करने वाले बहुत से कवि हैं, लेकिन जिस तरह विष्णु खरे ने इस विशेष जीवन की हरकतों, वातावरण और सपनों को छुआ है, वह अनूठी अभिव्यक्ति का परिचायक है। वे इस जीवन को दूर से देखते हुए बेहद आहिस्ते से इसे स्पर्श करते हैं, जैसे ताप में डूबे मरीज़ की नब्ज़ पर किसी हकीम का ठण्डा हाथ या किसी कोने में रखे सितार को किसी कच्ची उम्र के किशोर द्वारा छू-भर दिया जाना हो। ये कविताएँ उतनी ही ध्वनि करती हैं जितना अस्पताल में दूर से आती हुई कोई बीप हो, इनमें इतना ही रंग है जो प्रयोगशाला में कोई रसायनज्ञ किसी आदर्श टाइट्रेशन में कभी-कभी पा लेता है। लापरवाही की लरज़ से बुनी हुई दिखती इन कविताओं में अर्थ और ध्वनि का जो संतुलन और संयोजन है, वह भले अनायास हो लेकिन एक रूखे दिखते हुए गद्य की काव्यात्मक सम्भावनाओं का विस्तार इन्हीं तात्विकताओं के माध्यम से सम्भव होता है। इस मिजाज़ की कुछ कविताओं को देखना हो तो शुरुआत **पिछला बाकी** संग्रह में संकलित एक कविता **गर्मियों की शाम** से की जा सकती है। इस कविता में गर्मियों की एक शाम में किशोरवय के कुछ लड़के-लड़कियाँ घूमने निकले हैं, पूरी कविता कस्बे के दृश्यों से भरी है, इसमें सन्दर्भित समय में इन तरुणों की झिझक है, कस्बाई सौन्दर्य है, उनके स्वप्न हैं और पूरी कविता पर छाता हुआ अमूर्त यथार्थ भी है। इन सब चीज़ों से मिलकर किशोर मन के भीतर उपजती हलचलें हैं और उनका प्रतिपक्ष रचती हुई एक खामोश उदासी, जिसका प्रतीक कविता में '**साइकिल की खिन्न घण्टी**' के रूप में आता है:

अब सब हो गये हैं बहुत खामोश उसके कहे से
अलग-अलग सोच में पड़े हुए और धुँधला सा कुछ देखते हुए
और वह अपने संकोच में डूबा हुआ विशेषतः लड़कियों की ओर देखते झिझकता
टार्च जलाने लायक अँधेरा हो चुका है एक पीला हिलता डुलता वृत्त अब
उनके सामने है जिसकी दिशा में वे चले जा रहे हैं वापस
एक साथ लेकिन हर एक कुछ अलग-अलग
एकाध साइकिल की खिन्न घण्टी पर रास्ता देते हुए

इस मिजाज की बहुत-सी कविताएँ विष्णु खरे के पास हैं, जिनमें से कुछ कस्बाई माहौल में मध्यवर्ग के पारिवारिक जीवन के बारे में भी हैं। कभी-कभी यह अंदाज़ा लगाना भी मुश्किल हो जाता है कि लगभग दुरूह से लगते गद्य में कविता को सम्भव करने वाला कवि पारिवारिक सम्बन्धों को लेकर इतनी नरम कविताएँ भी लिख सकता है। एक कवि के रूप में इस दुर्जेय से दिखते गद्य के पीछे विष्णु खरे का जो हृदय है, वह किसी शिला से रिसते जल-प्रवाह की तरह है। बिना किसी लिजलिजेपन के सम्बन्धों को लेकर बिल्कुल अलहदा लहजे में जो भावात्मक कविताएँ विष्णु खरे ने सम्भव की हैं, उनका आस्वाद अपूर्व है। **सब की आवाज़ के पर्दे में** संग्रह में संकलित कविता **चौथे भाई के बारे में** ऐसी ही एक कविता है, जो कवि के उस मृत भाई के बारे में है, जिसकी मृत्यु जन्म के थोड़े समय के बाद ही हो गयी थी। कवि ने इस अनुपस्थित और अदृश्य स्मृति को अनोखे तरीके से देखा और बरता है। वह इस याद को दुनिया के असंख्य शिशुओं के धरती

पर आगमन से सम्बद्ध करते हुए इसे चेतना के दूसरे ही स्तर पर ले जाते हैं:

मैं जब जीवित या मृत शिशुओं को देखता हूँ
तो कभी-कभी मुझे तुम्हारी याद आती है
जो फिर एक विडम्बनापूर्ण प्रयोग है
क्योंकि जो देखा ही नहीं गया उसकी स्मृति कैसी
फिर भी ज्ञात से अज्ञात को पहचानने की कोशिश में
मैं जानना चाहता हूँ कि क्या दो साल के मुझे
तब तुम्हें कभी छूने भी दिया गया था
और क्या मैने तुमसे कुछ कहा था और तुम हँसे थे

विष्णु खरे की कविताओं का एक बेहद ज़रूरी आयाम कला, संगीत और फिल्म है। इन विधाओं के वे सुधी मर्मज्ञ थे, वैश्विक स्तर के संगीत, फिल्म और कला से न केवल उनका अंतरंग परिचय था, बल्कि वे उनकी बारीकियों को भी भली भाँति समझते थे। संगीत पर आधारित कविताओं को यदि चुनना हो तो उनकी दो कविताओं '**उम्मीद**' और '**प्रवाह**' की चर्चा ज़रूर की जानी चाहिए। 'उम्मीद' कविता में वे यूरोपीय शास्त्रीय संगीत के विख्यात कम्पोजर्स से एक अनूठी संरचना की फरमाईश की ख्वाहिश का जिक्र करते हैं जो परस्पर एक दूसरे रूपों की अपूर्णताओं को दूर कर बनायी गयी हों। वे इस कविता में बेटहोफ़न, हाइडन, मोत्सार्ट के सिम्फनी, कोंचेर्तो और ओपेरा का उल्लेख करते हैं और यह भी कि उनमें उन्हें क्या कमी अखरती है। अलग-अलग सांगीतिक रूपों के समन्वय को एक असम्भव स्वप्न कवि के मन में है, जिसकी उम्मीद में यह कविता लिखी गयी है:

महान प्रतिभाओं के पूर्वग्रहों से चकित और हतप्रभ
तकनीकी ज्ञान से वंचित
किंतु संगीत और स्वरों के अंतहीन प्रकारों और
विस्तार से कुछ परिचित
और उन्हें अर्पित
मैं तब अपने मन में गढ़ता और सुनता रहता
शब्दों और ध्वनियों की एक संरचना इस उम्मीद में
कि शायद एक दिन कोई सचमुच रचे उसे
और कोई नाम दे

संगीत पर ही केन्द्रित एक दूसरी कविता है 'प्रवाह' जो पहली कविता से बिल्कुल अलग तरह की कविता है। यह कविता संगीत के आस्वाद और उस प्रक्रिया में पैदा होने वाली नीरवता व अँधियारे से होने वाले श्रुति-कायान्तरण तथा श्रोताओं के प्रवाह में बदलते हुए सुर होने की तरलता को काव्यात्मक रूप में अभिव्यक्त करता है। कवि ने संगीत के इस अनुभव और उससे उपजने वाली तन्द्रा को मृत्यु नहीं बल्कि कई मनोलोकों में पुनर्जन्म के रूप में देखा है। कलाओं में इस तरह डूबना और उसके आस्वाद के अपूर्व स्तर को स्पर्श करना कवि की विशेषता है। कई बार विविध कलारूपों के बारे में उनकी कविताएँ कभी न सुने गये पारिभाषिक शब्दों और विवरणों के साथ सामने आती हैं। ऐसे समय लगता है कि कवि एक पूरी सभ्यता को कलात्मक रूप से शिक्षित करना चाहता है, सामान्य पाठक के स्तर से ऊपर उठती हुई ये कविताएँ कभी-कभी तो अपनी विद्वत्ता से धौंस जमाती हुई सी प्रतीत होती हैं, तो कई बार एक चुनौती सी देती हुई, कविता के पाठक को अद्यतन होने की चुनौती सी देती हुई:

सब लौटेंगे वही बनने के लिए जो वे इससे पहले थे
लेकिन ठीक वैसे नहीं
उन्होंने जान लिया है
कि क्या होता है एक प्रवाह में बदलते बहते हुए सुर होना
और अब भले ही वे अलग हो गये हों
और अब सब थोड़े-थोड़े बज गूँज या संचालित हो रहे हैं एक-दूसरे में
वे लीन हो रहे थे परस्पर लेकिन वह मृत्यु न थी
एक तरह का सतत पुनर्जन्म था जीते-जी
एक साथ कई रूपों मनोलोकों में

उक्त कविताओं के अतिरिक्त भी विष्णु खरे का काव्यसंसार बहुत विस्तृत है। उनके सात काव्यसंग्रहों में विविध विषयों पर लिखी गयीं कविताएँ इस काव्यसंसार को समृद्ध करती हैं। इस आलेख में उनकी कई चर्चित कविताओं को, जिनपर कई बार बात हो चुकी है, को छोड़कर नयी और अनछुई कविताओं पर बात रखने का प्रयास किया गया है। फिर भी, यदि उनकी कुछ विशेष कविताओं का नामोल्लेख करना हो तो 'लालटेन जलाना', 'दिल्ली में अपना एक फ्लैट', 'नेहरू गांधी परिवार से मेरे रिश्ते', 'बच्चा', 'विदा', 'मौत और उसके बाद', 'लड़कियों के बाप', 'वृन्दावन की विधवाएँ', 'लौटना' जैसी तमाम कविताएँ हैं, जो अपेक्षित रूप से चर्चित भी रही हैं और विभिन्न आलोचकों द्वारा उनकी अपना विश्लेषण भी जहाँ-तहाँ उल्लिखित किया गया है। कविता के विषयों का चुनाव उनकी एक अनूठी विशेषता रही है, मुझे नहीं याद आता कि हिन्दी में 'एबेण्डेण्ड' जैसी कोई कविता होगी, या फिर 'जो टेम्पो में घर बदलते हैं' या 'जा और हम्मामबादगर्द की ख़बर ला' जैसी कविता। वे महानगरीय जीवन के विद्रूप को जिस कोण से देखते थे, वह दृष्टि किसी और के पास नहीं है। उनकी वैश्विकता और जीवन के हर सम्भव रंग का स्पर्श उनकी कविता में स्पष्ट दिखाई देता है, संसार में विन्यस्त क्रूरताओं, दुरभिसंधियों के साथ-साथ फिर चाहे वह सिनेमा हो, संगीत हो, कला हो या फिर क्रिकेट जैसा खेल ही क्यों न हो, उनकी कविता में जगह पाता है।

याद आता है कि एक बार नामवर जी ने कहा था कि ज़रूरी है एक भी ऐसे आलोचक का होना जिसके भीतर अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा कहने का साहस हो। समकालीन हिन्दी आलोचना में यह साहस केवल विष्णु जी के अन्दर था, और इस हद तक था कि अपनी अधिक प्रशंसा से भी वे कई बार नाराज़ हो जाते थे। आपसी बातचीत में वे खुद को प्रायः 'खराब कवि' कहते पाये जाते थे, 'निज कवित्त केहि लाग न नीका' के इस दौर में ऐसे व्यक्ति का होना एक दुर्लभ सम्भाव्यता थी। इतना ही नहीं, यदि वे काव्य-प्रतिभा पर मुग्ध हो सकते थे, नये से नये कवि की अच्छी कविता पर पूर्वाग्रह की हद तक प्रसन्न हो सकते थे, तो प्रतिभाहीनता और भाषा या तथ्य सम्बन्धी भूलों पर बेहद तल्ख़ी के साथ नाराज़ भी हो सकते थे। विष्णु जी हिन्दी समेत कई भाषाओं के मर्मज्ञ थे, मैंने कविता सहित आलोचना, सम्पादन या फिर साधारण वार्तालाप या संवाद में भी उन्हें भाषा के प्रति बेहद सजग पाया है। वे भाषा सम्बन्धी असावधानी या भूलों को माफ़ कर देने वाले लेखकों में से नहीं थे। उनकी वैचारिक समझ भी एकदम साफ थी और उनके राजनैतिक विचारों में यह साफगोई साफ़ झलकती थी। फासिज़्म के उभार और उससे उपजे सांस्कृतिक संकट की सटीक पहचान उनके यहाँ थी। अपने प्रदीर्घ लेखकीय जीवन के तमाम झंझावातों में भी वे वैचारिक विचलन से बचे रहे। आज उनके जाने के बाद (बल्कि थोड़ा पहले से ही) उन तमाम कवियों को देखता हूँ, जिन्हें विष्णु जी ने प्रतिष्ठित किया और आज वे पाला बदल रहे हैं, अपनी प्रतिबद्धता से बहुत तेजी से समझौता कर रहे हैं, तो लगता है कि उनका हिन्दी साहित्य में बने रहना कितना ज़रूरी था, उनकी नाराज़गी कितनी अपरिहार्य थी। वे कभी-भी किसी को भी डाँट सकते थे, फटकार सकते थे, उसे जाहिल या काहिल सिद्ध कर सकते थे और यही कारण था कि वे निरंतर विवादों में भी रहते थे। हिन्दी कविता के ठहरे हुए पानी में वे गाहे-बेगाहे पत्थर फेंकते ही रहते थे, अफसोस है कि उनके जाने के बाद यह पानी अब शान्त हो गया है, उसकी हलचल ख़त्म हो गयी है।

***

-

हिन्दी सीझ रही है मनुज की आत्मा में

मंजुला बिष्ट की कविताएँ

कवि ने कहा

मेरे लिए लिखने की तलब क्या है..इस प्रश्न को मैं ख़ुद से करती रहती हूँ।आख़िर क्या जरूरत है घड़ी के दो काँटों के बीच भागते कालांश से अपने हिस्से का चुराया अलभ्य एकांत कलम को सहर्ष सौंप दिया जाए?क्या जरूरत है अनेक खोजी प्रश्नों का सामना करना कि अपने अनुभूत सुख-दुःख व आत्मिक- सँघर्ष को शाब्दिक-रूप क्यों दिया जाये?

इन तमाम सुने-अनसुने प्रश्नों के उत्तर की अनुगूँज हमेशा एक ही होती है:–आख़िर कब तक ख़ुद से बातें करके उकता जाऊँ,क्योंकि इस व्यस्ततम जीवनशैली में मेरी मौन लिपि केवल कलम-कागज़ को ही त्वरित व स्पष्ट समझ आती है।कितनी देर तक आपबीती व जगबीती के मध्य जद्दोजहद करती हुई स्वयं को लड़खड़ाने से बचाती रहूँ।कितनी बार समझाऊँ कि लिखकर ही ,आत्ममुक्त होकर ही तो गाढ़ी नींद नसीब होती है,इस देवदुर्लभ जीवन के रहस्यों को देखने का साहस कर पाती हूँ। यही क्षणिक साहस मेरी कविताओं की पूर्वपीठिका है।
ऋतुओं की संख्या से गिने जाने वाले इस कालचक्र में किसी भी पत्थर से तीसरी ठोकर न खा सकूँ,इसी प्रयास में जीवन-रख के पास खड़ी हूँ।और मुझे अनुभवी सारथी की नहीं..देश-दिसावर ऋतुओं की चाहनाओं में एक दिकसूचक की खोज है। यह दिकसूचक मुझ जैसे निहत्थे के लिए एक कुशलतम हथियार जो है।सबसे ख़ुशी व सुकूँ की बात यह है कि यह कुशलतम हथियार ...ब्रह्मांड में बिखरी वे तमाम अनुभूतियाँ हैं,जो कविताओं के रूप में बेखटके मुझसे मिलने चली आती हैं।उनसे मिलकर दिग्भ्रमित हुई ऊर्जा,सकारात्मकता व जिजीविषा लौटने लगती है।

बाँस में पुष्प खिलना

वे मनुष्य
सर्वाधिक कोमल रह पाए थे
जो स्वयं को सोचने भर से
छुईमुई बन जाने के अभ्यस्त हो चुके थे

जो बार-बार निर्बल सिद्ध होने लगे थे
स्वयं की नज़रों में
आखिरकार उन्होनें
एक दिन
स्वयं को लिखकर उसे सार्वजनिक किया

जो बने रह पाए थे सबल
बनिस्बत उनके
जिन्होंने लिखा...मगर
उसे किताबों के मध्य रखकर भूल गये

सबसे कठोर वे सिद्ध हुए
जिन्होंने दूसरों के शब्दों को भटकाकर
समय से दुरभि संधि की
और लंबे अवकाश पर चले गये

फ़िर एक दिन..
कोमल व सबल मनुष्यों ने भी
शब्दों से उठते ख़मीर को धूप दिखाई
उन्हें ताम्बई किया व बारिश में भीजने दिया
पीतवर्णी भी हुए तो
अल्पावधि के लिये ही ;

क्योंकि वे जान चुके थे
रहस्य इस भाव-सम्पदा का
कि स्वयं को लिखते जाना
कमज़ोर पड़ते हृदय की सबसे बलिष्ठ भाषा है
गूँगी जिह्वा की अति संवेदी वाचाल ग्रन्थियां हैं

हालाँकि वे सब अवगत हो चुके थे
इस महा-रहस्य से भी
कि शब्दों को सार्वजनिक करने से
स्वयं के भीतर
बाँस में पुष्प खिलने की घटना भी हो सकती है!

निषिद्ध अनुनय

एकांत में
रोने का सबसे अहमक तरीका यह है
चीखे इतनी जोर से
कि आत्मा न्यूनतम रीत जाये
लेकिन बगलगीर दीवार भी बेख़बर रहे;
नही,नहीं !
मैंने किसी को कपड़ा मुँह में ठूँसकर रोने की सलाह
बिल्कुल न दी है।

महफिलों में
हँसने की सबसे संकोची घटना वह है
मद्धम लय में ऐसी हँसी झरती रहे
कि आप देहातीत हो खिल उठें
लेकिन निराशा को भी गफ़लत होती रहे
उसके दुःखों पर हँसना अभी भी अभेध काम है;
नहीं,नहीं!
मैंने अट्टहास पूर्व किसी गलदश्रु की तरफ पीठ करने
को नहीं कहा है।

नफ़रतों के मध्य
प्रियस बनने का सबसे निष्ठुर प्रयास यह है
प्रेम करें इतना मंदबुद्धि होकर
कि स्वयं की पहचान के प्रति भी कौतुक बनें रहें
भूखा-प्यासा भेड़िया आपको हमशक़्ल न पुकारे कभी
नहीं,नहीं
मैंने आपको प्रेम में अधिक शील-नागरिक होने की
विनती नहीं की है।

शिक्षालयों में
बेस्ट-टीचर अवार्ड को चूमने से पहले
उठा लें एक बहिष्कृत छात्र का झुका सिर
रोक दें किसी चपल मासूम की तरफ
आपके मार्फ़त फुसफुसाए हतोत्साहन मन्त्र को;
नहीं,नहीं!
मैंने आपको व्यक्तिगत कुंठाओं तज अधिक शिक्षित
होने को ताक़ीद नहीं किया है।

वाचनालयों में
सर्वविदित कृति की उबाऊ प्रतीक्षा से पहले
उस दराज़ की तरफ़ अवश्य टहल आएं
जहाँ किसी पदचिह्न अंकित होने की सूचना न हो
सृजन की उन बन्द यज्ञशालाओं पर वातायनों से
रोशनी न गिरी हो
नहीं,नहीं!
मैं अपठित रही अभिव्यक्तियों हेतु सदाशय बने रहने
की गुंजाइश नहीं बता रही हूँ।

हिंदी सीझ रही है

नयी हिन्दी बनाम पुरानी हिन्दी
के बीच भाषा की आत्मा
कहीं लय-ताल न खो दें

क्या इतना काफी नहीं है
भाषा के आलोचकों व पुरोधाओं के लिए
कि हिन्दी खूब बोली जा रही है
लिखी जा रही है..समझी जा रही है
पुराने बासमती चावल सी;
हिन्दी सीझ रही है मनुज की आत्मा में

भाषा का नमक चढ़ने दो
उसके मनमाफ़िक पाठकों तक
उस पाठक तक
जो,सिर्फ हिन्दी को जानता-पहचानता है

उसकी आयु को नहीं ;
यह हिन्दी उसकी पुरखों की आदिम वाणी है
इसे बार-बार फूटने दो,बहने दो,लौटने दो

रह जाये इतनी पहचान व ठसक
अपनी हिन्दी की
कि इसकी सभा-चौपालों में
आने वाले के कांधे में
अगर नमकीन अंगोछा हो
या झूलती हो कोई सुगन्धित विदेशी टाई
तो भी मंच पर कोई परायी अकबक़ाहट न हो

बस,
उसके मुँह से जब नेह बरसे
गझिन आत्मीयता से
या फूटे कोई आक्रोश भी ;
उस बोली की त्वरा व तेवर
अपनी हिन्दी का हो
भले ही वह किसी भी जनपद की हो
टूटी-फूटी या मिश्रित ही सही
सोंधी न सही खाँटी ही भली!
अनबुझी रह जाये तो कोई बात नहीं
अनसुनी रह जाये तो मलाल नहीं

देखना!
हिंदी की आत्मा
अपनी खूंटी से रंभाती गईया की तरह
अपना नाम
हर बोली में पहचान ही लेगी।

आश्रयहीन मैं

जब पिता गए
तो अनायास सौंप गए
माँ को
मेरा बचपन..मेरी विस्तीर्ण दुनिया

लेकिन
जब माँ गयी,तो
छीन ले गयी
वे सभी ठियां
जहाँ मैं भरपूर बसती थी
अपनी परिपक्वता में,अपनी नादानियों में

वह बसावट ही
मेरा तीन-चौथाई संसार था
अब इस बचे हुए एक-चौथाई खण्ड में
कहाँ पग धरु..कहाँ से पलटू मैं

कल्पनातीत है
माँ के छोड़े जाने पर
इतनी क्रूर-दारुण हो सकती है
मेरी वह पूर्व-दुनिया !

सिकुड़ा अँगूठा

पहाड़ काटकर
वर्तमान में रोज़गार
व भविष्य के सुगम हाईवे तैयार किये जा रहे हैं

चौड़ी..और चौड़ी होती सड़क के किनारे
आस-पास बचे दो पेड़ों की डालियों के बीच
साड़ी के टुकड़े में रख छोड़ा
एक अधनंगा शिशु
चटकते आसमान में पुरखे तारों से खेल रहा है
उसने अपनी भूख को शांत करने के लिए
मैला अंगूठा मुँह में फंसा रखा है

सिर पर तसला रखती उसकी माँ के लिए
बार-बार उस तक पहुँचने से पहले
ठेकेदार की ओर देखना जरूरी है
और ठेकेदार अपने हाज़िरी-रजिस्टर में
कुछ ज्यादा झुका है

महीने का अंत जो नज़दीक है!
उसके फैले हुए आर्द्र-हाथ बार-बार
जेब की तरफ चले जाते हैं

लेकिन आश्चर्य !
हाथ की मुट्ठी बनती ही नहीं
मुट्ठी खुली रह जाती है
हर बार ही

माँ जानती है
अगर वह सीधी राह न चली तो
नये माह की शुरुआत में
अपने लिए एक नयी सड़क
व उसके शिशु हेतु
दो बचे पेड़ फिर खोजने होंगे

एक तरह से
वह और ठेकेदार
अपनी-अपनी आदिम-लकीर को पीट रहें हैं
और शिशु भी
अब अपनी भूख लगने के समय को पहचानने लगा है

माँ का ध्यान इस तरफ़ नहीं जाता है कि
चूसते रहने से
शिशु का अंगूठा सिकुड़ जाएगा

उसने अपने हक़ में
एक यक़ीन पुख़्ता किया हुआ है कि
हाज़िरी-रजिस्टर में सिकुड़े अंगूठे ही देर तक छपते
रहते हैं
जिद्दी अंगूठे तो पलायन को विवश है।
***

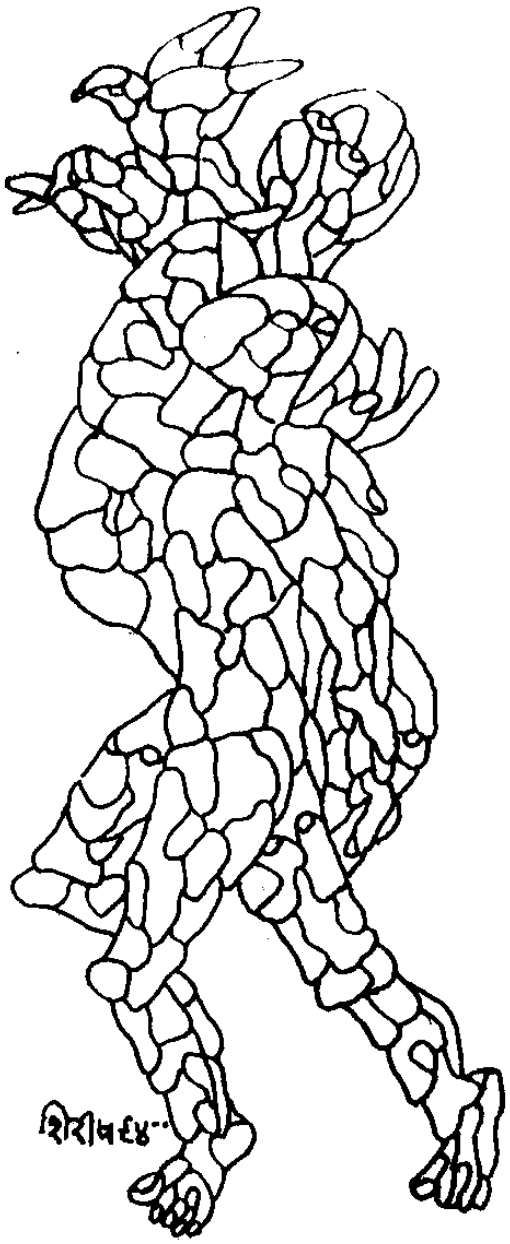

जब सारी बड़ी-बड़ी नदियाँ थक गईं

संदीप तिवारी की चार कविताएँ

संदीप नौजवान कवियों में उम्मीद से भरा एक नाम हैं। उन्हें पिछले वर्ष युवा कविता के लिए रविशंकर उपाध्याय स्मृति पुरस्कार बनारस में दिया गया है। वे लोक और विचार से गहरी सम्बद्धता रखने वाले कवि हैं। उनका अनुनाद पर स्वागत है।

कवि ने कहा

कविता मुझे अधिकतर यात्राओं में मिलती है. या किसी अनजान जगह पर. बसों, ट्रेनों, स्टेशनों या अस्पतालों में. कई बार राह चलते, सड़क पर. अधिकतर तो भीड़भाड़ के बीच ही वह दिखती है. कई बार उसे साथ ले आता हूँ. कई बार वह वहीं रह जाती है.

भीतर कोई गहरी उदासी हो, मन में किसी बात का दुःख हो, पुरानी स्मृतियाँ उसी समय आकर घेरती हैं. दिन बीतने के क्रम में बहुत सी चीजें अपना रूप बदल लेती हैं. अनुभव और स्मृतियाँ भी लिखते समय घट-बढ़ जाते हैं. कभी बहुत चाह के भी लिखना संभव नहीं होता. तो कभी बहुत चाह के भी हम उसे टाल नहीं पाते. कविता कब और कैसे होगी, यह ठीक-ठीक हमें कभी पता नहीं होता. वह जब भी आती है, अपने हिसाब से आती है. हमारे हिसाब से नहीं. उस समय अच्छा बुरा जो भी हो, लिखना ज़रूरी जान पड़ता है. न लिख पाओ तो एक अजीब सी बेचैनी होती है . जैसे कोई बहुत ज़रूरी काम छूट रहा हो.

लिखना मेरे लिए हमेशा एक मुश्किल काम रहा. इसीलिए अधिकतर टालता ही रहता हूँ. पता नहीं और लोगों के साथ ऐसा होता है या नहीं? पर मुझे कई बार कोई सरल वाक्य लिखने में भी बहुत मेहनत करनी पड़ती है. लिखना, काटना, फाड़ना, फेंकना,जोड़ना, घटाना यह सब तो होता ही है. कभी कम तो कभी ज्यादा.

लिखकर भी कभी पूरी तरह संतुष्टि नहीं मिलती. ऐसा कभी नहीं होता कि कह सकूँ- कि लो अब यह पूरा हुआ. अंत समय तक यही लगता रहता है कि कुछ तो छूट रहा है. कुछ अधूरा रह गया है. वही अधूरापन भरने के लिए बार- बार लिखता हूँ . और बार-बार कुछ छूट जाता है.

***

तमसा

बरसात में लबालब भर जाती वह
भर जाती तो सुंदर लगती
अचानक से बढ़ जाती उसकी उमर
उसकी काया
अचानक से खिल जाता
उसका रूप

गर्मियों में वह सूखी बहती
जैसे भीतर से रोती हो कलप-कलप के
पी जाती अपने आँसुओं को
अपने ही कंठ से

जब उसमें पानी नहीं होता
तब भी उसका पुल काम आता
लोग सूखी नदी को भी
पुल से करते पार

पुल पर ही खड़े होकर
हम साइकिल की घंटियाँ बजाते
हमें लगता कि नदी अभी उछलकर
आ जाएगी पुल पर, हमसे मिलने

तमसा के किनारे ही
मामा का गाँव था
तमसा के किनारे ही ब्याही गई थी बहन
तमसा के किनारे-किनारे साइकिल से जाते हम
मामा के गाँव बहन के घर
हफ़्ते दस दिन में लौटते थे
तमसा के ही किनारे-किनारे

कथाओं में भी आया इस नदी का नाम
बनगमन के समय
राम पहली रात रुके थे
इसी नदी के किनारे

आह!
कितना कृतघ्न! कितना डरपोक!
कि मैं एक भी दिन नहीं सो सका
तमसा के किनारे

शहर गया और भूल गया
उसका रूप
भूल गया उसके जल को
भूल गया उसका साथ
भूल गया उसका भूगोल
अब आसपास के कितने कस्बों
बाज़ारों, मिलों के कचरे को ढोती है वह
वह बड़ी नन्ही सी है बड़ी नाज़ुक सी
और उसके काँधे पर लाद दिया गया
उसकी उम्र से ज्यादा का भार

जब सारी बड़ी-बड़ी नदियाँ थक गईं
तो तमसा तो दुधमुँही है
सूख गई ढोते-ढोते कचरा
रूठ गई वह
हमारे साथ खेली हमसे ही रूठ गई
साइकिल की घण्टी सुनकर भी
अब चुप लगा जाती है वह!

***

उसने पूछा

बहुत देर तक साथ में पैदल चलते हुए
उसने पूछा
तुम सड़क पर चलते हुए
क्या देखते रहते हो?

मैंने कहा -
चलता तो आँख खोल कर हूँ
लेकिन बहुत बार
समझो बंद ही रहती है आँख

कभी कभी तो
सिर्फ पैर रखने की जगह देखता हूँ
एक पैर बढ़ाता हूँ
तो दूसरे के लिए खाली जगह देखता हूँ

सामने आ जा रहे लोग दिखते तो हैं
लेकिन मैं उन्हें देख नहीं पाता
वह आते हैं और चले जाते हैं
जैसे एक गाड़ी आती है
और चली जाती है,
मैं उसका रंग नहीं देख पाता
मुझे केवल गाड़ी का जाना सुनाई देता है

इतना सुनकर
उसने ऐसे देखा-
जैसे अभी पूरी न हुई हो बात
जैसे कुछ कहना रह गया हो बाकी

मैंने कहा-

सड़क पर चलते-चलते
खोजता हूँ कोई विचित्र चीज
और जब मिलता है कुछ ऐसा
तो ठहर जाता हूँ थोड़ी देर
लेकिन ऐसा कभी-कभी ही होता है

कभी कोई विचित्र पेड़ रोक लेता है
कभी कोई अलग सी चिड़िया
कभी-कभी उनका अलग रंग
तो कभी-कभी उनका उड़ना

कभी मुझे अचानक से दिखती है
कोई सुंदर सी चीज़
किसी कूड़ेदान के ऊपर
हो सकता है वह कूड़ेदान की वज़ह से
दिख रही हो सुंदर
और कभी अचानक से
कोई सुंदर चीज़
कूड़े जैसी दिखती है
कभी-कभी तो मैं सिर्फ कूड़ा देखता रहता हूँ

वह चुप हो गई
जाते-जाते मैंने भी पूछा
तुम क्या देखती हो जब चलती हो मेरे साथ
उसने थोड़ा ठहरकर कहा-
जब तुम ऐसी विचित्र चीजें देख रहे होते हो
मैं सिर्फ तुम्हें देखती हूँ

इतना कहकर
वह जाने लगी
उसका जाना जरा भी अलग नहीं था
वह जब भी जाती थी, इसी तरह जाती थी
जब वह जा रही थी
मैं आसमान में उड़ता
चिड़ियों का एक झुंड देख रहा था
***

राम बुझारथ

राम बुझारथ कोई आदमी नहीं था
एक बछड़ा था
जिसे मैंने पाला था
ढरकी से दूध पिला-पिला कर
मर गई थी जिसकी माँ
बचपन में ही

जब सारे खेतों में घास सूख गई रहती
तब मैं खोज लाता उसके लिए
कहीं से , दो-चार मूठी हरी घास

कितनी भी दूर से बुलाऊं उसका नाम
शब्द हवा में तैरता हुआ
सीधे उसके कान तक जाता
जैसे रामबुझारथ को हमारी भाषा का ज्ञान रहा हो
वह उतने ही जोर से जवाब देता
और तबतक देखता
आवाज़ की दिशा में
जबतक कि मैं उसके सामने न पहुँच जाता

देखते-देखते बड़ा हो गया रामबुझारथ
देखते-देखते आने लगे उसके ख़रीदार
एक दिन कोई आया
पाँच सौ की एक नोट देकर,
ले गया पकड़कर उसका पगहा

कितना खेत जोता होगा मेरा रामबुझारथ
कितनी बार मारा गया होगा
कितनी बार रोया होगा बैठकर अकेले में
कितनी बार सोचा होगा बहुत कातर होकर
कि कभी कोई आये उसे लेने

यहाँ से गया
क्या पता जहाँ गया, वहां से भी गया हो कहीं

न मैं जा पाया उससे मिलने
न वह आया कभी लौटकर
अब तो इस दुनिया में भी नहीं होगा वह !
आज मेरे पास रह गई है
उसकी एक धुंधली सी छवि
जिसमें वह उस छोटे से नीम के बगल
बैठा पगुरा रहा है
बहुत निश्चिन्त होकर
***

रेल

नदियों से नदियों तक ले जाती है
ले जाती है देश से परदेश
घर ले जाती है
लाती है घर से
रेल मनुष्यों की खोजी हुई नदी है
जिसका अपना विशाल अपवाह तंत्र है
पूरब से पश्चिम
और उत्तर से दक्षिण तक
****

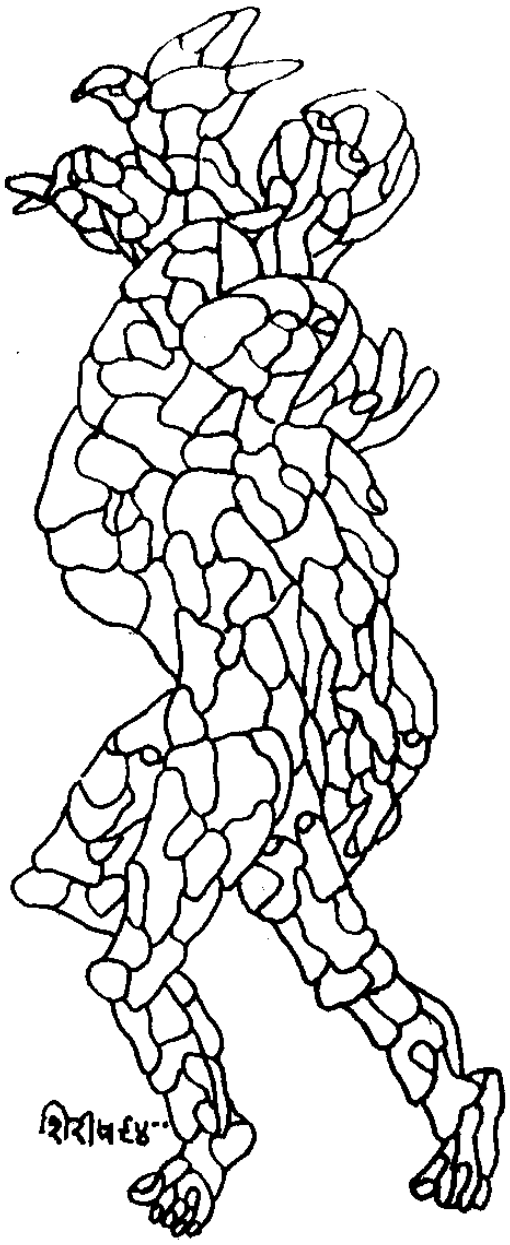

भूख के पैर उग आए

गिरीश चंद्र पांडे की कविताएँ

कविता मेरे लिए जीवन को बेहतर बनाने का जरिया है। मुझे कविता ने बदला है। इस हद तक बदला है कि पिछले कुछ वर्षों में दुनिया और दुनियादारी को देखने के अपने नज़रिये में आमूलचूल परिवर्तन महसूस कर पाता हूँ

- गिरीश चंद्र पांडे

इत्ता सा तो फर्क है

उसने मन्त्रों को
भूत बनाया
ईश्वर बनाया
दुख की बात
उन्हें इंसान न बना पाया

दूसरे ने पुस्तकालय बनाये
उसे प्रश्न मिले
रोज सूरज की रोशनी के साथ
उत्तर ढूंढने निकला
लौटा वह चांदनी की ठंडक के साथ

वह आग को ढूंढने लगा
उसे जलाने लगा
उसे तापने लगा
उसे संरक्षित करने को सोचने लगा

अपने अंदर की आग को
बुझाने लगा
सभ्यता के साथ
उसने नदी को सुना
समंदर के अट्टहास को महसूस किया

बादल को शक की नजरों से देखा
चाँद को ढूढने निकला
सूरज को समझ कर नमस्कार किया
मंगल के पास गया

सच कहूँ वो आज भी
ढूँढ रहा है
मिट्टी के वंशज को
पानी के उद्गम को
समंदर के खारेपन को
नदी की मिठास को
रेत के रूखे पन को
क्योंकि उसने इनमें से किसी को पूजने की कोशिश नहीं की।
ना ही इन्हें खुद से अलग समझा

उनको ,
उनके उद्गम को जानना चाहा
उसने कभी नहीं कहा
प्रश्न मत करो
तर्क मत करो

पहला पत्थर की लकीर को नापता रहा
उसकी गहराई से प्रफुल्लित होता रहा
दूसरा
लकीर को बनाता और मिटाता रहा

जरूरत सब की
किसी ने पूजा मिट्टी,पानी,हवा और धूप को
किसी ने छुआ
महसूस किया
और उपयोग किया

और बताया और क्या क्या सम्भावनाएं हैं।
कितना बदल सकते हो
इनके सहारे खुद को

हेर फेर

अंकों का हेर फेर किया
यह कहकर
यह मेरा अधिकार है

सस्ते रसायनों को
मनमाफ़िक घोल कर
बाज़ार के हवाले किया
यह कहकर
ज़िंदा रहना है तो
ख़रीदो

तेल को पानी के भाव लिया
उसे बाज़ार के हवाले किया
यह कहकर
चलना है तो ख़रीदो

दूसरों के घरों को तोड़ने निकले हो
कुछ तोड़ भी दिए
उन घरों पर कब्ज़ा कर लिए हो
यह कहकर
यह घर अब घर न रहा है
यह तो अब मेरा घर होगा
मुखिया मैं हूँगा
सदस्य पुराने वाले ही सही

ठगी कब तक आखिर
याद रखना एक दिन ठगे जाओगे
अपने ही ठगों से
***

शून्य-सा

अब नहीं लिखा जा रहा है दर्द
क़लम से बहुत दूर
जा चुका है दर्द

कोई तलवार अब इतनी बुरी नहीं लगती
जितनी ज़ुबान

दिल नहीं पसीजता
लँगड़े कुत्ते को देखकर

पिजड़े का शेर दहाड़े या न दहाड़े
कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता

तोता चोर चोर बोले या राम राम
कानों को कोई लेना देना नहीं है

बंदरिया हो या बन्दर
डमरू की किड किड से पांवों के घुंघरू नही
खिलखिलाते

ग़ज़ल अब सजल नहीं दिखती
लय ताल और सुर
नहीं गुंथते एक दूजे से

कितना मुश्किल होता है
ऐसा होना
होते हुए देखना पर
चुप्पी साध लेना
***

बैल-सा

लछुआ
अब लड़ने नहीं जाता
गाँव के अन्य बैलों से

वो अब सींगों से भीड़ों को भी नहीं खोदता
और दूसरे बैल को देखकर

गर्दन टेढ़ी कर
ज़मीन को पाँव से नहीं कुरेदता
नहीं ललकारता
सुबह सुबह गोठ से निकलते हुए
जुड़े को उचका उचका कर

अब तो आनाकानी भी नहीं करता
उसे कोई लेना देना नहीं होता
उसे किस तरफ जोता जा रहा है

बैल ही क्यों
हलिया भी तो अनमना सा ही रहता है
न न्या पाते
न बैल के सींगों से आसमान की थाह लेता है
न देखता है
कितने हाथ की हलढ़ाणी
फिट्ट बैठेगी बैलों पर।
हलानी की फाल बुच्ची है
या नुकीली

बस बैठा है खेत के कोने पर
बगल के बंजर खेत की दूभ के कुछ तिनके
मुँह में डालकर
बड़बड़ाकर जोत दिए हैं
बैल

घाड़ों की आवाज़ और हलिया के उठते बैठते स्वरों
से बेफिक्र बैल
बस खेत को पलट देना चाहते हैं

मिट्टी के बीच छिपा पत्थर
धँसा है हाथ दो हाथ नीचे तक
अपनी हनक के साथ
हलानी जा फंसी
और चटक गई
फाल जा गिरा सी के बीच

बैल चले जा रहे हैं
हलिये की लाचारी से बेफिक्र
***

.

लौटना आसान नहीं

भूख के पैर उग आए
अभी हाथ उगने बाकी हैं

जिस दिन उग आए हाथ
उनमें अंगुलियां
और नाखून
तब भूख पूरी तरह
अंधी और बहरी हो जाएगी

सड़कें चीखेंगी
मण्डियां सन्नाटा होंगी
इससे पहले कि भूख वायरस बन फैल जाए
उसे दे दो

बिन कहे दो जून की रोटी
सूखी ही सही
पहुँचा दो उनके घरों तक

थोड़े ही दिन सही
टँगी सांकल का हठ योग टूटे
बन्द ताले का मौन छूटे
आँगन की चहचहाहट लौटे

कुछ ही दिन सही
क्या पता
चूल्हा बोल उठे
अंतर्मन डोल उठे

भूख
हाथों को जगा दे

रुला दे
और बंजर हो चुके खेत
हरे हो जाएं
तब .....
***

शर्तें तेरी और मेरी

उसे मैं
उसकी अपनी शर्तों पर मंजूर था
वह अपनी शर्तों को गिनाती रही
और मैं उन्हें ताउम्र दर्ज़ करता रहा

आज उसने बडे प्यार से कहा
एक पुरुष होना कितना मज़ेदार है ना
इस वाक्य में दर्ज़ करने लायक कुछ था नहीं
सो उसे हवा में रहने दिया गया

और मैंने शर्तों को याद किया
जो अब घर बन चुकीं थी

सारे वादे उसकी शर्तो के आसपास थे
वो जो बाहर मेरे सामने
खुद को मेरे आंखों में देख रही थी
अपनी शर्तो की थाह लेती हुई
घुल गई थी
मुझ में
और मेरे अंदर

वहाँ एक घोंसला था
जो उसने बनाया था
अपनी शर्तों पर
हमारे लिए
***

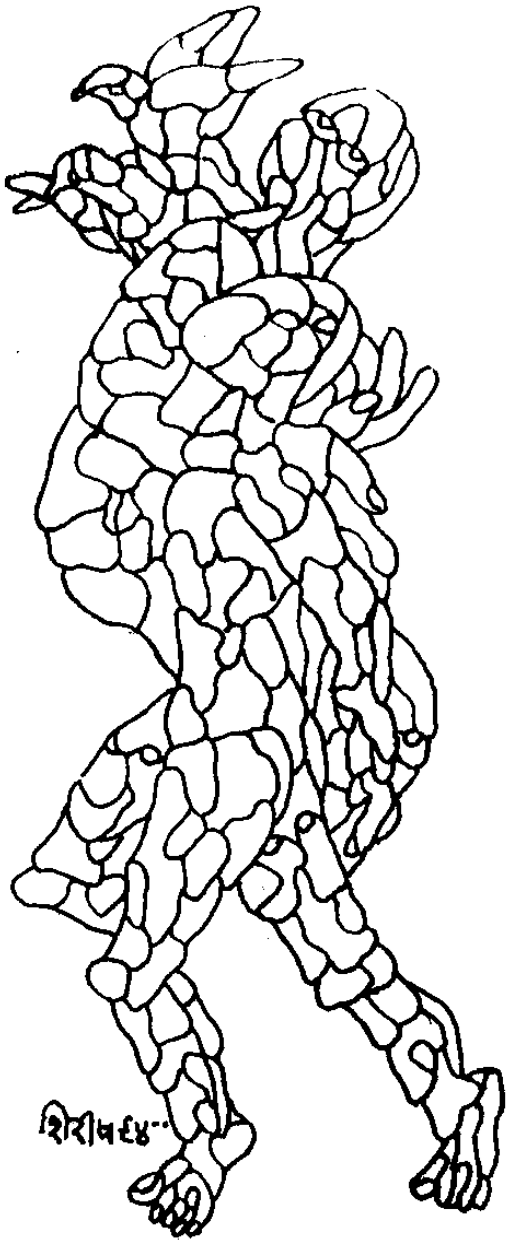

पिछले शरद के पहले नए थे नीलकुरिंजी के फूल

कुशाग्र अद्वैत की कविताएँ

कुशाग्र अद्वैत बाईस बरस के नौजवान हैं, जिनके पास कुछ विशिष्ट जीवनानुभव हैं, जैसे हर नौउम्र इंसान के पास होते हैं। कुशाग्र जीवन की सांद्रता को कुछ सजग हो और कुछ चौंकते हुए-से देख और आँक रहे हैं। उनकी कविता में हताशा और आशा के बीच गूँजती एक युवक की जो आवाज़ है, वह दरअसल उनके जैसे अनगिन युवकों की आवाज हैं। बिना मोह में फँसे वे स्मृतियों के साथ रह लेते हैं और अपने उस रहवास से कुछ चकित-से प्रश्न पूछते हैं। एक नया संसार, एक नयी-सी लगन और किसी अमूर्त ठोस को पिघला कर आकार में बदलता हुआ एक विकल मानवीय शिल्प इन कविताओं में हैं।

उसकी कविताओं के माध्यम से/ईश्वर को बसन्त के आगमन की/ आधिकारिक घोषणा करनी थी – इस घोषणा का अनुनाद स्वागत करता है।

कवि का कथन

यह एक थके-हारे आदमी की कविता है। जो कभी इस्केपिस्ट-सा रवैया अख़्तियार करता है और कहीं दूर भाग जाना चाहता है। प्रेम भी उसके लिए इस कुरूप यथार्थ से बचने का प्रयास है, एक खोह है या कहिए एक किस्म का इस्केपिस्म ही है। यह सब करने के बावजूद वह जैसा जीवन ख़ुद जी रहा है, दूसरे के लिए वैसा जीवन नहीं चाहता। वह अपने सिवा हर किसी को भगौड़ेपन, उदासी और हताशा के इस गहरे-अँधेरे-असीम कूप में गिरने से, गिरते रहने से बचाने की बेकार कोशिश करता है, कोशिश क्या करता है— बस सवाल पूछता है। बेहद मासूम-सा सवाल। जिसका अमूमन किसी के पास कोई जवाब नहीं होता।

फिर यहाँ स्मृतियों का एक जाल है। पुरानी-सुंदर स्मृतियाँ; घेरेदार। पुरातनता अपने साथ एक अलग किस्म की सुंदरता लाती है। वह मक़बरे-सी, कला वीथिकाओं-सी सजीली सुंदरता भी हो सकती है। वह नॉस्टेल्जिया-सी जीवित सुंदरता भी हो सकती है। यह ज़रूरी भी नहीं कि नॉस्टेल्जिया हर किसी के लिए और हर बार सुंदर ही हो। वह असुंदर भी हो सकती है। यह भी हो सकता है कि कल जो असुंदर था, वह आज सुंदर लगे। मसलन, गरीबी में जीते बखत किसी को आनन्द नहीं आता, लेकिन जब वह दौर बीत जाता है तब उसके बखान नहीं चुकते। फिर हाल(वर्तमान) है। दुनिया है— विस्मृति को गले लगाती हुई, सबकुछ भूल आगे बढ़ती हुई, अतीत से, परम्परा से पीछा छुड़ाती हुई-सी।

मेरी कविता इन दोनों अतियों के बीच कहीं सम्भव होती है। बुद्ध के मध्यममार्ग के अपने अर्थ थे। मैं उस मध्यममार्ग को जीवन में उनसे अलग और कत्तई निजी अर्थों में लेता हूँ। किसी एक धारा के साथ बह सकने के लिए अपनी sanity नहीं तज सकता। गलत को सही और सही को गलत नहीं ठहरा सकता। किसी को पूरम-पूर सही भी नहीं मान सकता। इन अर्थों में यह एक मध्यममार्गी की कविता है। स्मृति-विस्मृति के बीच कहीं सम्भव होती है। ऐसी ही और दूसरी चीज़ों के बीच कहीं सम्भव होती है। दोस्त, बाज़ दफ़ा यह समझ लेते हैं कि यह मध्यम मार्ग न्यूट्रेलिटी है, एक किस्म की तटस्थता है। लेकिन, ऐसा है नहीं। यह सच और सौंदर्य के पक्ष में लिखी हुई कविता है। सच और सौंदर्य के की वक़ालत में लिखी हुई कविता है

- कुशाग्र अद्वैत

सोलह बरस के लड़के की कविताएँ

एक सोलह बरस के लड़के की कविताओं के बिम्ब
इतने कुरूप क्यों हैं?

यहाँ
मगरमच्छ क्यों हैं,
रंग-बिरंगी मछलियाँ क्यों नहीं?

कोई पूछता भी नहीं
सोलह बरस के कवि से
कि यहाँ तो सोता होना था
फिर इतनी प्यास क्यों हैं?

हरदम महकती रहनी थी यह जगह
इत्र होते या कुछ और
फिर, चिमनियों का-सा धुआँ क्यों हैं?
रंग-बिरंगी तितलियाँ क्यों नहीं?

सोलह बरस के लड़के को तो
शुतुरमुर्गी चुम्बन में डूब जाना था,
या कोई अश्लील किताब ले
बिस्तर में ही लुका जाना था

उसकी पथरीली आँखों को
किसी की सजीली आँखों के आगे
सहसा ही झुक जाना था,
दो कदम आगे आना था
तीन कदम पीछे,
फिर असमंजस में
बीच में ही कहीं रुक जाना था।

उसकी कविताओं के माध्यम से
ईश्वर को बसन्त के आगमन की
आधिकारिक घोषणा करनी थी।

उसकी कविताओं में हुई
नुक़्तों की गलतियाँ
आलोचकों को
आकाश से छिटके तारों-सी लगनी थी।

उसकी कविताओं के आकाश को नीला
और धरती को असामान्य रूप से हरा होना था।

उसकी कविताओं में
मधुमक्खियों को छत्ता लगाना था,
कोयलों को घोंसला बनाना था।

उसकी कविताओं के आसपास
होना चाहिए था—
एक अद्भुत प्रकाश
किसी लैम्पपोस्ट की तरह
कीट-पतंगों को जहाँ डेरा जमाना था।

उसकी कविताओं में
उपासना,
विपासना,
सपना
लड़कियों के नाम होने थे।

और, वासना?
वासना—किसी ऋतु की!

लेकिन,
उसकी कविताओं के बिम्ब
इतने कुरूप हैं
और,
कोई पूछता भी नहीं
कि यहाँ तो सोता होना था
फिर इतनी प्यास क्यों हैं?

कोई नदी सदा नदी न थी

कोई गीत
उतरते ही
न आया था
तरन्नुम में

कोई पत्थर
सदा
पत्थर न था

न कोई पत्थर
सदा
ईश्वर था

कोई नदी
सदा
नदी न थी

कोई मरुथल
सदा तो
मरुथल न था!

न मैं सदा मैं था
न तुम सदा तुम

फिर हम कैसे
हो गए
इतने हम!

उसके पूर्वप्रेमी के लिए

मौसम में शारदीय नवरात्र के
पहले वाली खुनकी है,
एक नन्ही पीली पत्ती
पाँव के नीचे आ दुबकी है

ऐसे ख़ुशनुमा मौसम में भी
वो बेचारा
बेचैन हो रहा है
तुम्हारी बाट जोह रहा है

कर लो उस से बात
ग़र पूछे, बता देना—
तबियत ठीक रहती है,
दवा टाइम पर लेती हो,
ज़्यादातर, खुश ही रहती हो

ग़र रोने लगे ज़ार-ज़ार
कह देना—
तुम भी करती हो उसको याद
.....कभी-कभार।

कोई समझे न समझे,
एक प्रेमी को समझना चाहिए
दूजे प्रेमी का दुःख।

हम साथ मिलकर

हम साथ मिलकर
पकड़ेंगे तितलियाँ*
और उड़ा देंगे

देखेंगे
बहुतेरे सपने—
कुछ को करेंगे पूरा,
कुछ को
भुला देंगे

इतवारों को लगाएँगे पुराने गाने,

साथ धोएँगे मटमैले कपड़े
और झाग से खेलेंगे

देर तलक
तरतीब से
घर बुहारेंगे

एक-दो नहीं
पाँच-पाँच बिल्लियाँ पालेंगे

हम साथ मिलकर
बिलकुल अर्थहीन-सी लगती
या बिलकुल अर्थहीन हो गई
या कहो बिलकुल अर्थहीन
कर दी गईं चीज़ों को
बिलकुल नए अर्थ सौंपेंगे

घर के किसी
वीरान पड़े कोने में
नए नक्षत्र गढ़तीं
चींटियों के लिए
मुट्ठी भर आटा डालेंगे

हम साथ मिलकर
अपने डरों के
कपड़े उतारेंगे

फिर रोएँगे
या खिलखिलाएँगे

साझा करेंगे
बचपन की अच्छी-बुरी स्मृतियाँ
फिर बच्चों-से हो जाएँगे

हम साथ मिलकर
आकाश की तरफ़,
मेघों की तरफ़,
पेड़ों की तरफ़,
और-और लोगों की तरफ़
बेहिचक, दोस्ती का हाथ बढ़ाएँगे

अलसुबह, नाश्ते की मेज़ पर
जो गीत किसी एक के मुँह पर चढ़ा होगा
उसको हफ़्ते-दो हफ़्ते
दफ़्तर की अकबक उबासियों में गुनगुनाएँगे

और, शाम गए
जब कहीं मिलेंगे
उदासियों-उबासियों को
रक्तिम सेब समझ
दो-दो फाँक बाँटेंगे
और, काट खाएँगे।

*** व्लादिमीर नबोकोव और उनकी संगिनी वेरा, जो उनकी लिपिकार, अनुवादक, सम्पादक, प्रथम पाठक और प्रवाद तो यहाँ तक है कि उनकी अंगरक्षक भी थीं, जिनके साथ मिलकर वे तितलियाँ पकड़ते थे, के स्नेहिल सम्बन्धों को याद करते हुए।**

तुम्हारे होंठ मेरे लिए बिल्कुल नए हैं

इन्हें कैसे स्पर्श किया जाए
मेरी उँगलियों के पास
वह कला नहीं है

तुम्हारे होंठ मेरे लिए
बिल्कुल नए हैं

जैसे नई है
यह ऋतु बासन्ती,
जैसे पिछले शरद के पहले
नए थे

नीलकुरिंजी के फूल

तुम्हें चूमने के बाद से ही
मैं नव्यता से ओतप्रोत हूँ

मेरे होंठ
बार-बार रस्ता भटक जाते हैं,
तुम्हारे दाँत
साबित कर देते हैं
उन पर अपना प्रभुत्व
और वो बेचारे
सकुचा कर
कर देते हैं समर्पण
कि जैसे उन्हें यही आता हो

तुम्हारे होंठ मेरे लिए नए हैं,
हर नई शै
मुझे तुम तक खींच लाती है,
हर नई शै
जिज्ञासा को जन्म देती है
जिज्ञासा खोज को

जैसे धरती वाले मंगल पर
जीवन खोज रहे हैं
मेरी जिह्वा तुम्हारे होंठों के पार,
मुख के भीतर
अपने लिए
सिर्फ अपने लिए
जीवन खोजती है

अ-पकी सुंदर चीज़ों के लिए/ बुआ की याद

उसकी रसोईं की देहरी पर खड़ा हूँ
चाहता हॉल में बैठता, हवा खाता
पलटता मैगज़ीन, बदलता चैनल
या उसके बच्चे से कुछ बतियाता

वह भी यही चाहती है
तब ही कहती है—
"तुम वहीं बैठो आराम से,
कब का निकले होगे!,
थक चुके होगे,
बस बनने को है,
फिर आती हूँ।"

कलछुल हिलाते-डुलाते
जाने क्या पकाते-वकाते
कुछ-कुछ गुनगुनाती है
जिसकी बहुत मद्धम आँच
मुझ तक आती है

उस से कहूँगा यदि
कि तुम्हारे लिए नहीं
इस गीत के लिए खड़ा हूँ
वह सचेत हो सकती है
गाना रोक भी सकती है
मेरी पसंदगी का इक नाज़ुक सिरा
जुड़ा है ऐसी अपकी सुंदर चीज़ों से
जिसे करते हैं लोगबाग़ बेध्यानी में
या यूँ ही, कभी-कभार, शौक़िया
जैसे नाचती थी मेरी छोटी बुआ

कभी बेध्यानी में तो कभी शौक़िया
बिजुली गुल होने पर तो अक्सरहाँ
हर नए गाने पर ख़ुद को आज़माती
कभी बजता गाना, कभी ख़ुद गाती
दूर से जाती रेल की आवाज़ आती

कभी पकड़ती मेरी छोटी ऊँगली
गोल-गोल घूमती, मुझे भी नचाती
क़मीज़ में पचरंगी दुपट्टा लपेट लेती

कमरे की तरफ़ किसको आने देती

कभी ऐश्वर्या, कभी माधुरी
कभी वो श्रीदेवी होती
नाचते-नाचते हँसने लगती
नाचते-नाचते नदियाँ रोती।

***

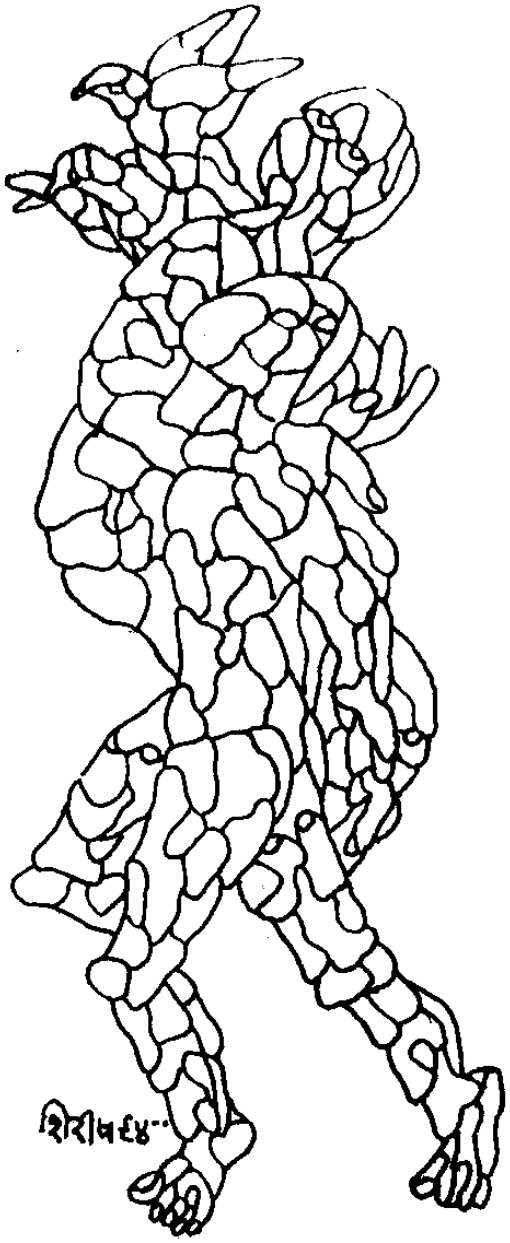

विपदाएँ नया रच कर जाती हैं

आशीष कुमार तिवारी की कविताएँ

कवि का कथन

कविताएँ तो मैं स्नातक से ही लिखने लगा था लेकिन सचेत रूप से लिखने का क्रम परास्नातक (2017) के बाद से शुरू हुआ। इन तीन वर्षों में बहुत कुछ देखा राजनीति में निर्लज्ज सांप्रदायिकता, तमिलनाडु-मध्यप्रदेश से पैदल दिल्ली चलकर जाने वाले किसानों का विद्रोह देखा, अभिव्यक्ति पर पाबंदी, छात्रों-नौजवानों पर ज़ुल्म, नागरिकता पर सवाल, श्रेष्ठताबोध में एक की संस्कृति को दूसरे से निम्न दिखाने की भावना....बहुत दृश्य थे जो विचलित करते थे और करते आ रहे हैं। विपदाओं में भी राजनीति का कुत्सित रूप उभरकर आया, मूर्खता का प्रसार राष्ट्रीय विवेक की तरह किया जा रहा था।

ऐसे में यदि मेरी कविताओं में राजनीति का प्रभाव अत्यधिक झलके तो इसमें मैं बुराई नहीं मानता। राजनीति ने प्रत्यक्ष रूप से हमारे जीवन को दबोच लिया है। इसलिए कविता का राजनीति से निरपेक्ष होना मानव जीवन और समाज से अन्याय होगा। कविता पर भरोसा हमें करना है। मैं अपनी अधपकी भाषा के साथ कविता लिखकर अपना विरोध दर्ज कर रहा हूँ। कला-कौशल विहीन हो सकती हैं ये कविताएँ परंतु इन परिस्थितियों में विरोध यहां मिलेगा। इन कविताओं में मेरी मिट्टी, घास-फूस और पेड़ों की पत्तियां अपनी झलक के साथ मिलेंगी। आपसे आग्रह है जरा ठहरकर इन कविताओं में झांकियेगा।

- आशीष कुमार तिवारी

देवासुर विद्या

असुर वे कहलाये गए
जिनके गुरुओं ने उन्हें स्वर्ग-विजेता बनने के गुर सिखाए
असुरों के गुरु को, गुरु के रूप में स्वीकार नहीं किया गया
जिनके शिष्य महाव्यसनी थे,
जिनके शिष्यों की विलासिता,
किसी असुर शिष्य की विलासिता से कम न थी
वे गुरु देव-पूजाओं में दुहराए जाते हैं
असुरों के गुरु ने उन्हें विजय-कौशल के मंत्र दिए
सृष्टि-रचयिताओं से वरदान लेने योग्य कठिन साधना, तप का दृढ़ संकल्प सिखाया
रचयिताओं को बार-बार विवश किया इच्छित वरदान देने के लिए
असुर थलचर थे,
उन्होंने आकाश में युद्ध-कलाओं से देव-शिष्यों को अनेक बार पराजित भी किया
संभव था वे उन वरदानों का सदुपयोग भी सीख जाते,
लेकिन आचार्य शुक्र जैसा प्रतिबद्ध गुरु उन्हें दुबारा न मिला
आचार्य बृहस्पति इंद्र की मूढ़ताओं से दुखी रहते थे
परंतु देव-सत्ता का त्याग वे न कर पाए
जाने किस लाचारी में वे अपनी विद्याओं का लोप होता देख रहे थे
देव-निर्मित जिस गुरुत्व-बल को तोड़कर
असुरों का स्वर्गारोहण हो रहा था उससे वे चकित थे
वे इंद्र से अपेक्षा करते थे कि वह एक नया स्वर्ग भले न बना पाए
कम-से-कम निर्मित स्वर्ग को अपने पराक्रम से बचाये रहे
जिससे उनकी विद्याओं का प्रभाव बना रहे
परंतु देवतागण दैवीय-भार से ग्रसित थे
विद्या-प्रभाव उनमें असुरों से लघुतर था

देव-गुरु की पदवी छोड़कर गुरु बृहस्पति एक प्रयोग यदि कर पाते
कि आचार्य शुक्र के साथ मिलकर एक महाअभियान असुरों के पक्ष में करते
तो योद्धाओं का इतिहास इस महादेश में कुछ और होता
तब जो आचार्य परंपरा विरासत में मिलती,
वह देवासुर संग्राम को न जन्म देती
बल्कि देवासुर विद्या-संस्कृति को शिल्प देती....

मिट्टी-चोर बच्चे

किसी ने कहा कि मोहल्ले के बच्चे
आपके प्लॉट की मिट्टी चुरा रहे
मैंने भी देखना चाहा
देखा कि छोटे-छोटे बर्तनों में बच्चे मिट्टी भरके ले जा रहे
वे उन्हें गमलों में डाल रहे थे
कुछ गमलों में तो सुंदर-सुंदर फूल भी खिले थे

कुछ पल के लिए तो लगा कि वे सारे फूल मेरे हैं
क्योंकि वे मेरे प्लॉट की मिट्टी में उगे हैं
फिर उन बच्चों के चेहरों पर ध्यान गया
जो उन पौधों को सींचते

ये बच्चे बड़े नादान होते हैं
गमले तैयार करना वे खेल समझते हैं
उन्हें नहीं पता
वे मिट्टी चुराकर फूल खिला रहे

जब उन गमलों में खिले फूल देखता हूँ
तो उन फूल जैसे बच्चों के चेहरे याद आ जाते हैं

तब मन हंसकर कहता है
ले जाओ!
सारी मिट्टी चुराकर ले जाओ
सारी मिट्टी को फूल बना दो

नहीं तो ये सारी मिट्टी शहर के बोझ तले दफ़न हो जाएगी

बच्चों! जब ज़मीन पर इमारतें उतर आएं
तो उन इमारतों के सिर पर
एक गमला मिट्टी भरकर रख देना
ताकि उन्हें एहसास रहे
मिट्टी ही सत्य है
मिट्टी ही शाश्वत है।

सबसे बड़ी महामारी से लड़ती दुनिया

महामारियां सभ्यताओं के चेतने का दौर होती हैं
बीते समय की छलनाएं उसकी पायदान बनती हैं

धरती पर पहली महामारी जब भी आई होगी
वह – भूख रही होगी
भूख का स्थायी इलाज़ आज तक न मिला
न ही उचित प्रबंध

भूख को छला गया
ये महामारी धरती से मिटी नहीं
इससे होने वाली मृत्यु के आंकड़े कहीं भी दर्ज़ नहीं
किसी पोस्टमार्टम हाउस में ऐसी लाशों का परीक्षण नहीं हुआ
यदि किया गया होता तो शायद भूख के बिलबिलाते कीड़े निकलते
कहते हैं पेट में भूख के कीड़े नहीं,
भारी-भरकम नरभक्षी चूहे होते हैं
ये चूहे अंतड़ियों को चबा जाते हैं

अब जब भी कोई नई महामारी आती है
इन चूहों का खेल शुरू हो जाता है
तय करना कठिन होता है – पहले किससे मरेंगे

दूसरी बड़ी महामारी नफरत और भेदभाव
इसके कीड़े पेट में नहीं,
दिमाग में पनपते हैं
इस महामारी में खून सड़कों पर बहता है
हाथ,पांव, गर्दन कटे मिलते हैं
भयावहता यह कि इसमें घर-मकान,दुकान जलते हैं
औरतों की इज्जत लूटी जाती है
बच्चे अनाथ होते हैं
हंसते-खेलते परिवार तबाह हो जाते हैं
और यहीं से बात फिर भूख पर लौट आती है
इस माहौल में पीड़ित कई दिन भूखे रोते-तड़पते रहता है

कई महामारियां भटक रहीं गलियों में
अगर भूख और दिमाग की महामारी जीत ली गई होती
तो शायद हम अन्य से बेहतर ढंग से लड़ पाते

मूर्खता को राष्ट्रीय विवेक घोषित किया जाना चाहिए

राष्ट्र विपत्ति में हो
तो निवासियों का विवेक उसकी पूंजी होती है
महामारियां आती हैं और मानवता को त्रस्त करती हैं
पर मूढ़ता जब दबे पांव विवेक का हरण कर ले
तो राष्ट्र की रक्षा संभव नहीं

मूर्खता महामारियों का वैधानिक सत्यापन
राष्ट्र के माथे पर करती है
पर इससे पहले की प्रक्रिया है,
मूर्खता को राष्ट्रीय विवेक घोषित किया जाना।

ये दोहरी आपदा है मानवता पर
जब, उसके पास न राष्ट्र होगा, न विवेक।

मूर्खता शोक को हास्य में परिवर्तित करना चाहती है
मूर्खता को मूर्खता करने के लिए भी
थोड़ा बहुत विवेक तो चाहिए ही...
वह नहीं जानती
शोक को हास्य में बदलने की कोशिश में पागलपन पैदा होता है

यह महामारी के विस्तार का सुंदर समय होता है
तल में महामारी और सतह पर मूर्खता का फेन
जो राष्ट्र इसमें फंसा,
वहां बस पीड़ा बचेगी
मृत्यु बचेगी।

इस तरह कोई भी महामारी दोमुंही होती है।

विपदाएं नया रच कर जाती हैं

इन दिनों अनेक दृश्य मौजूद हैं
ये दृश्य किसी को प्यारे नहीं हैं
पर सभी मजबूर हैं इन अप्रत्याशित दृश्यों की नियति से

क्या कभी आठ साल का बच्चा
आठ सौ मील की यात्रा पैदल तय करेगा..?
वो उसे ज़ाहिल भले कह लें
पर क्या गर्भवती स्त्री भरी कोख़ और खाली पेट
पैदल एक राज्य से दूसरे राज्य जा पाएगी..?
पर...
वो जाएगी और जीवट को जन्म भी देगी

कितना कुछ रच कर जाएंगी ये विपदाएं
विपदाएं अनजाने में क्षमताओं को रच जाती हैं
बाढ़ से उपजी विपदा विशाल बांधों की ओर,
सूखे की विपदा गहरे कुओं की ओर।

समुंदर उस पार के देश में जलता चूल्हा

इस पार के चूल्हे में आग भले न जला सके
पर घर जरूर जला सकता है।
जैसे विपदाएं आयीं और सब तक पहुंची
वैसे सब अपने घरों तक क्यों नहीं पहुंचे..?
विपदाओं की गति तेज है,
समाधान ठेलने पर भी न पहुंचेगा।

जब सब कुछ असंगत है
तो क्या जरूरी है कि मेरे सारे सवाल संगत ही हों..?
मन करे तो खारिज़ कर देना।

जब दुनिया ठीक हो जाए

फूलों से लदा कोई पौधा, कोई पेड़
किसी कागज़ को रंगते रंगीन ब्रश की तरह
रंग रहा होता है
थोड़ा सा आसमान,
थोड़ी सी ज़मीन

इस रंगाई में कितना रंग खर्च होता होगा
इसका अंदाज़ा लगाना कितना मुश्किल है
ऐसे फूल किस चित्रकला शैली से बनते होंगे
कौन इनका चित्रकार है
इनकी महक किस नाम से जानी जाती होगी
ऐसा कुछ निश्चित नहीं

इंसानों की दुनिया जब हताश है
बचने-बचाने की कोशिशों में जुटी है
तब भी सूरज अपने वक्त पर उग रहा है
भोर की आहट पाकर अब भी चिड़ियों की चटकार
फूट रही
मंथर गति की हवाएं अब भी सुकून दे रहीं

इन लदे भार फूलों ने अपनी महक से
दुनिया को सुगंधित करना जारी रखा है
सब मिलकर दुनिया को रंगीन और सुगंधित कर रहे हैं
उम्मीद की डोर मजबूत कर रहे सभी
फिर दुनिया डोलेगी
और इन पौधों और फूलों की भूमिका को याद रखकर
भविष्य के संकटों से इन्हें भी बचाने का प्रण लेगी

ये निभा रहे अपना दायित्व
उम्मीद है,
दुनिया ठीक हो जाये तो लोग भी निभाएं इनके साथ
वफादारी।

देह की मिट्टी बचाने के लिए

वे जब पैदा हुए तो घर मिट्टी का बना था

मिट्टी में ही खेले
मिट्टी में ही पले-बढ़े
कभी-कभी शौक़ से मिट्टी खाई भी

उन्हें लगा कि मिट्टी ही सब कुछ है
मिट्टी के चूल्हे,
मिट्टी के बर्तन,
मिट्टी के खिलौने
और घर की दीवारें भी मिट्टी की थी

उन्हें लगा कि मिट्टी ही सब कुछ है
इसीलिए खेतों की मिट्टी से उन्हें प्यार था
पूरा परिवार चारों ऋतुओं में मिट्टी को चूमता रहता था
मिट्टी उनके लिए सब कुछ थी

जब सभ्यता ने खुद को आधुनिक घोषित कर दिया
मिट्टी का मोल मिट्टी बराबर साबित किया जाने लगा
और
मिट्टी को मिट्टी के मोल खरीदकर
भट्टों में महंगे ईंटें बना दी गईं

उनसे मिट्टी का भरोसा छीन लिया गया
नम मिट्टी को ठोस ईंटों में बदलने का काम जारी था
ये मिट्टी के बने इंसान
अपनी मिट्टी को ईंट बनता देखकर निस्सहाय हो चुके थे

उनके पाँव तले की मिट्टी दिनोंदिन खिसक रही थी
अब वे अपने शरीर की मिट्टी को
गलने से बचाने के लिये
ईंट के भट्ठे में अपने पूर्वजों की मिट्टी झोंक रहे थे।
***

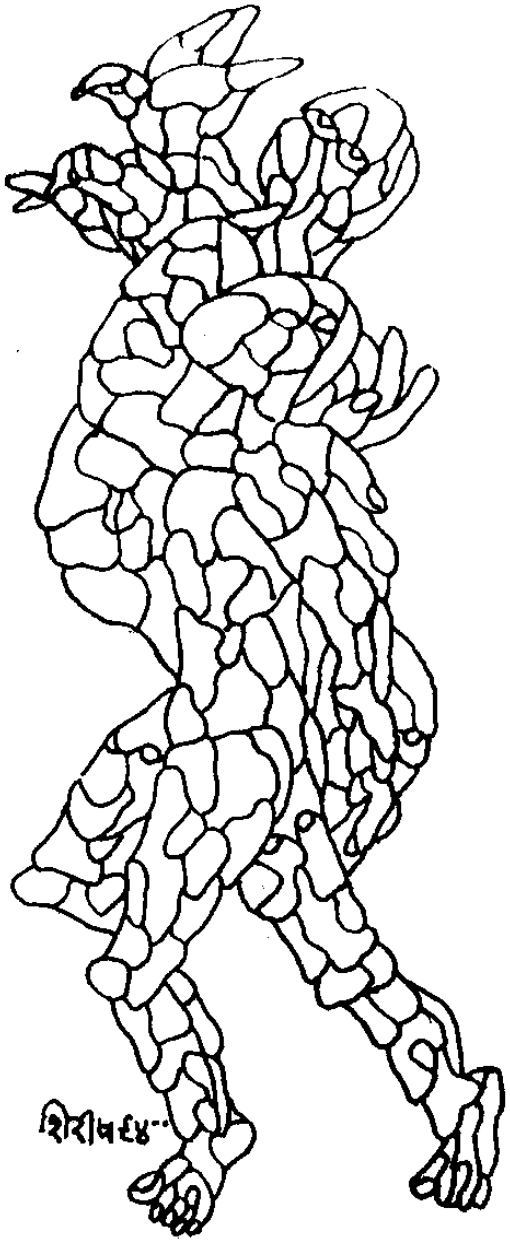

धरती के किसी कोने में

रमेश शर्मा की कविताएँ

कवि का कथन

मेरी समझ में कविता घर और समाज में एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य की संवेदनाओं से जोड़ने वाली एक सेतु की तरह है जिसके बिना एक दूसरे तक पहुँचने में हमें दुनियावी दिक्कतों का सामना करना पड़ता है | कविता हमारी इन दिक्कतों को आसान करती है, इस अर्थ में हमारे सामाजिक जीवन में कविता की एक बड़ी भूमिका है| दिनोंदिन मृत होती मनुष्य की संवेदना को दुनिया में जिन तत्वों ने थोड़ी मात्रा में ही सही , बचाए रखने में अपनी भूमिका अदा की है , उसमें कविता भी है | मैं अगर कविता न लिख रहा होता , तो मुझे लगता है भीतर से कई बार अराजक हो उठता | मेरे विवेक को स्पर्श करती हुई कविता, मुझे हर बार भीतर से नियंत्रित करती है |

पढ़ी जाए यह कथा भी

पाँव ख़ाली हों
तो यात्राएँ कठिन होने लगती हैं
थककर
ठहरे हुए पानी की तरह
ठहर जाते हैं यात्री
जीवन की यात्रा में कई बार !

विज्ञान कहता है
ऊर्जा होती है
ठहरे हुए पानी में
ढील दो
तो बहने लगता है तेज !
रुकावटें भी तो भर देती हैं
ऊर्जा से जीवन को कई बार
कई बार फिसलन से बचाती हैं रुकावटें !

पांव खाली हों
या खाली हो जेबें
रुकावटों के
डरावने उदाहरण की तरह ही
रखे गए दुनिया में अभी तक
ये महज रुकावटें भर नहीं हैं
जीवन के घर्षण बल हैं ये
जिसके बिना सम्भव नहीं चलना
जीवन की धरती पर
जीवन का विज्ञान
अधूरा है इन रूकावटों के बिना !

कभी तो
जीवन को
विज्ञान की कसौटी पर कसा जाए
समझा जाए एक नई दृष्टि के साथ
बदहाली की नई-नई कथाओं वालों इस देश में
पढ़ी जाए यह कथा भी
कि ख़ाली जेबें
और ख़ाली पांव लिए
अपने गंतव्य तक
आज भी
किस तरह पहुँच रहे हैं लोग !

मछलियाँ

यह रहस्य नहीं है
कि मछलियाँ उदास नहीं होतीं

बिना थके हर वक्त जागते हुए
अपनी आंखों की चमक
न जाने कैसे बचा लेती हैं मछलियाँ !

कुछ लोग कहते हैं
छोटी-छोटी लड़कियों की तरह
होती हैं मछलियाँ !

काश
किसी रहस्य से परे
जीवन की सच्चाईयों का सौंदर्य
हमारे पास भी होता
तो हमारी उदासी
आसमान में छू मंतर हो जाती !

नदियों का जल
चांद की रोशनी
और सूरज का ताप
जो हमारे हिस्से आए
उनके होते भी
हम इतने उदास क्यों हैं?
ये सवाल
धरती पर ऊगे हर पेड़ पर
लदे दिखते हैं
पके फलों की तरह !

धरती उदास है
इन पके फलों के बोझ से
जैसे धँस रही दिनोंदिन अपने ही भीतर !

खत्म होने की गति में
फिर भी
बची हुई हैं बहुत सी चीजें
जैसे मछलियों की चंचलता
उनके न थकने का गीत !

बहुत सी चीजें
मरती नहीं कभी
दुनिया को सिरजने के
औजार की तरह
बची रहती हैं धरती के किसी कोने में !

***

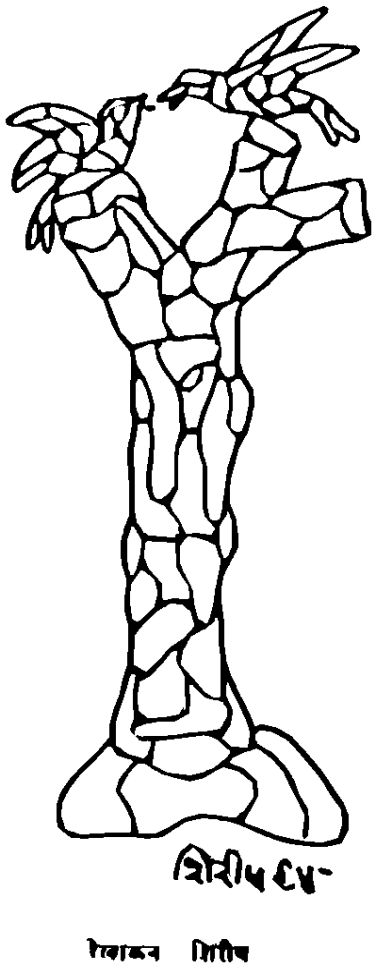

आँखों की नदी में हिल रहे हैं सपने

जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताएँ

जितेन्द्र श्रीवास्तव चर्चित कवि हैं। उनकी कुछ प्रेम कविताएँ अनुनाद को मिली हैं। पुरानी बयाज़ से निकाल कर सत्ताईस बरस बाद कवि ने इन कविताओं का संग्रह प्रकाशित कराना तय किया है और उसी संग्रह से ये कविताएँ साझा करते हुए अनुनाद कवि को शुभकामनाएँ देता है।

तब जब 'ऐसे समय में कविता क्यों' जैसे नावाजिब से सवाल उठें और जाने किस भ्रम में सब इसके जवाब ढूँढने लग जाएं, तब जब 'ऐसी कविता' और 'वैसी कविता' के बीच एक कृत्रिम फांक सी बनाई जा रही हो और सब इस बाजू या उस बाजू में अपना ठिया बसाने में लग जाएं, तब जब बहुत धुंधलका सा हो हर तरफ और सब प्रकाश के मुग़ालते में अंदर नहीं बाहर की ओर दौड़ लगाने लग जाएं तब, तब ही कविता के भीतर की आंच और कवि को अपने भीतर के प्रकाश को 'पाने' की ज़रूरत सबसे ज़्यादा होती है. जितेन्द्र कविता की अंदरूनी आंच और अपने भीतर के प्रकाश की ओर लौटते दिख रहे हैं.

जितेन्द्र की इन प्रेम कविताओं को पढ़ना भरी दुपहरी कड़े घाम में किसी दरख़्त के साये तले एक क्षण रुककर दो घूंट पानी पी लेने के जैसा है. लगता नहीं कि कुछ मानीखेज़ किया हो पर होता बहुत ज़रूरी सा कोई काम है. जटिल, शुष्क और प्राणघातक जीवन व्यवहारों के इस काल में प्रेम इकलौती शय है जो कविता और जीवन दोनों को सहेज रखने के क़ाबिल है. डेढ़ दशक से ज़्यादा समय पहले लिखी इन कविताओं में सहेज कर रखी गई कोमलता और रोपा गया प्रेम आज और आने वाले समय में कवि और कविता पर उठ रहे प्रश्नों का माकूल जवाब बन सकने की काबिलियत रखते हैं.

\- अमित श्रीवास्तव(युवा कवि-कथाकार)

जल में छाया की तरह

किसी पत्ती को छूता हूँ
और महसूस होता है तुम्हें छू रहा हूँ

झुकता हूँ किसी फूल पर
और लगता है जैसे झुक आया हूँ तुम्हारी ओर

जल भरी अँजुरी को लगाता हूँ होठों से
और चमकने लगते हैं तुम्हारे अधर
पानी में छाया की तरह

देखो न!
मैं हूँ जहाँ
वहीं तो हो तुम भी !!
(1993, गोरखपुर)

उपस्थिति

कल रात
सो न सका मैं
कल पूरी रात
पलकों के बीच मुस्कुराती हुई
बैठी रहीं तुम।
(1994, गोरखपुर)

परछाइयों के पीछे

कुछ कहानियों की उम्र
बस तीन दिन होती है

एक दिन मन में उठती हैं
दूसरे दिन उन्हें मिलता है आकार
तीसरे दिन हो जाती हैं तिरोहित
किसी अन्य के आख्यान में

कई बार जीवन में
प्रेम भी आता है
महज तीन दिन के लिए

एक दिन लेता है आकार
दूसरे दिन उसे मिलती है पृथ्वी
तीसरे दिन शाम के धुँधलके में खो जाता है कहीं

कुछ लोग जीवन भर दौड़ते रहते हैं
परछाइयों के पीछे।
(1993, गोरखपुर)

मैं अनादिकाल से गा रहा हूँ

मैं अनादिकाल से गा रहा हूँ तुम्हारे लिए गीत
पर तुम कहाँ सुनती हो !

आँखों की नदी में हिल रहे हैं सपने
लेकिन मैं डरता हूँ तुम्हारी रुसवाई से

मैं रोज अपनी हथेली पर सजा लेता हूँ
पूरा का पूरा दिन
इस उम्मीद में
कि शायद तुम धूप बनकर चली आओ

मैंने कई चिट्ठियां भी लिखीं तुम्हारे नाम
पर भेजी नहीं कभी

अब तुम्हीं बताओ
कौन खोल पाया है अपना पूरा मन चिट्ठियों में !

सोचता हूँ
जब मिलूँगा तो पूरा मिलूँगा

कभी फुर्सत मिले तो देखना
ये महज बातें नहीं हैं
मेरा हर पल घुला है तुम्हारी प्रतीक्षा में
अब इस जीवन में कोई दूसरी चाह नहीं शेष।
(1993, गोरखपुर)

मैं तुम्हें प्रेम करता हूँ

मैं तुम्हें प्रेम करता हूँ
इसलिए तुम्हारी देह को भी प्रेम करता हूँ

मैं आकर्षण से भरा हूँ तुम्हारी देह के लिए
इसलिए करता हूँ तुमको प्रेम
यह कहना असंगत होगा पूरी तरह

सखी! ओ सखी!!

प्रेम में होती है देह
पर देह के बिना भी होता है प्रेम।
(1996, जे एन यू)

सावन की फुहारों से कहीं

सोचता हूँ
कुछ चिट्ठियां जरूर आई होंगी
उस पते पर जहाँ
फिर जा न सका मैं चाहकर भी

क्या पता
डाक बाबू ने उन्हें फाड़ दिया होगा
या दे दिया होगा किसी मित्र को
कि शायद वह पहुँचा देगा मुझ तक

सम्भव है
उस मित्र ने लिफाफा खोलकर पढ़ ली हो चिट्ठी
आनन्द लेते हुए ज़िक्र किया हो दूसरे मित्रों से

और ईर्ष्यावश या शायद भूलवश
उसे भेज न पाया हो मेरे नए पते पर

क्या पता वह आखिरी चिट्ठी
तुम्हारी रही हो
जिसे तुमने सजल नैनों और काँपती उंगलियों से
मुझे अलविदा कहते हुए लिखा हो

पर हाय अभागा मैं
पा न सका तुम्हारी उंगलियों का अंतिम स्पर्श भी
बचा न सका अपनी त्वचा में तुम्हारे आंसुओं का
नमक

वैसे एक ख़त मैंने भी लिखा था तुम्हें
तुम्हारे उस पते पर
जहाँ अब तुम नहीं रहती हो लेकिन
जो घुल गया है मेरे रुधिर में

न जाने वह खत तुम्हें मिला
या गल गया तुम्हारे स्पर्श की चाह लिए
सावन की फुहारों में कहीं! (1997, जे एन यू)

अंतराल

उस दिन यह महज संयोग ही था
कि हम एक ही ट्रेन की
एक ही बोगी में बैठे थे आमने-सामने
और चुप थे
जबकि बातें बहुत थीं मेरे पास

ट्रेन भाग रही थी
कभी जिंदगी से थोड़ी तेज
कभी थोड़ी मद्धिम

मैं बच रहा था उसे बार-बार देखने से
इसलिए बार-बार देख रहा था खिड़की से बाहर
दूर तक फैली हरियाली
और कभी-कभी वीरानी भी

समय बरौनियों से उतरकर
समा गया था पुतलियों में

वहाँ उभर आए
असंख्य प्रतिविम्ब और आँखों के लाल डोरे
हिल रहे थे स्मृति-जल में

कि अचानक कुछ देर बाद
मुझे लगातार देख रही उसकी लगभग दो वर्ष की
बेटी
चढ़ आई मेरी गोद में

क्षण भर के लिए अचकचा गया मैं
फिर पुचकारने लगा उसे
दिखाने लगा खिड़की से बाहर का दृश्य

वह देखती रही कुछ देर बेटी का मेरे साथ खेलना
फिर बिना कुछ कहे
बच्ची को ले लिया अपनी गोद में
फिर रात ने तान ली रजाई
सन्नाटा पसर गया ट्रेन में

अगली सुबह उतरने से ठीक पहले
कहा उसने-
बहुत बदल गए हो
मैंने बहुत देर में पहचाना तुम्हें
पर तुम्हें तो बोलना चाहिए था कुछ

फिर चुप रहकर कुछ पल
बहुत धीरे से कहा उसने-
सब कुछ है तुम में
बस समय पर कह नहीं पाते तुम समय की बात
और समय निकल जाता है आगे

उस क्षण उदास सी लगी वह मुझे

मैंने कुछ कहा नहीं
बस चुपचाप सुनता रहा उसकी बात

मुझे लगा
कहीं कोई घाव था
जो रिस रहा था उसके भी भीतर।
(1997)

ओ मेरी साँवली आभा

मन की टहनी पर बैठी
ओ मेरी कोयलिया
उड़ मत जाना

मैंने कभी किसी और को
बैठने न दिया यहाँ
पल भर के लिए भी

तुम्हारी प्रतीक्षा में
टकटकी लगाए बैठा रहा हूँ वर्षों

अब जब आ ही गई हो
तन्मय होकर साधो जीवन संगीत
भूल जाओ यात्रा की थकान
अब मेरा हृदय है तुम्हारा मकान
इस मकान को बना लो घर
मैं भी कबसे भटक रहा हूँ बेघर

देखो, नहीं है मेरे पास कोई आश्वासन
बस विश्वास है
जो दे रहा हूँ तुमको
और बस यही चाहता हूँ तुमसे

ओ मेरी साँवली आभा
अब उड़ना
तो मुझे भी साथ लेकर उड़ना !
(1993, गोरखपुर)

जीवन का गीत

चलो सुलेखा
मिलकर गाएं जीवन का गीत

जो तुम सोचो
वह समा जाए मेरे कंठ में
जो मैं सोचूँ
उसे कह दो तुम
चलो प्रिय
मिलकर छांटे
जीवन -अन्न में घुस आए
कंकड़- पत्थर

चलो
साथ-साथ चलें
बीच-बीच में एक दूसरे को निहारते हुए
एक दूसरे के तलुओं से काँटे निकलते हुए

चलो सुलेखा
हम बदल दें अनचाही बदरी को
मन चाहे सुख के बादलों में

चलो सुलेखा
चलो न!
(1996, जे एन यू)

सुलेखा ओ सुलेखा!

यह कार्तिक की चाँदनी रात है
या तुम्हारी स्मृतियों की बरसात ?

भींग गई हैं
अरावली की पर्वत श्रृंखलाएं
शिरीष की सुगंध में समा गई है
थोड़ी सी नमी

पुरवा चल रही है मंथर-मंथर
पिरा रहा है मन का घाव

सुलेखा ओ सुलेखा!
क्या तुम भी जगी हो अभी
क्या जल रही है तुम्हारे भीतर कोई अगन
क्या बैरी चन्द्रमा
आकर बैठ गया है तुम्हारी पलकों के बीच ?
सुलेखा !
ओ मेरी जीवन प्रिया!!
पंछी बन
चली आओ उड़कर अभी इसी पल

यहीं बनाएंगे हम घरौंदा
न स्मृतियों की बरसात होगी
न होगी विरह की अगन
बस होंगे हम दोनों
मगन मगन।
(1996, जे एन यू)

निवेदन

प्रेम है
तो होगी चर्चा भी

अब क्या सकुचाना क्या भरमाना
किससे लजाना!

मन की स्लेट पर
भावों की खड़िया से लिखी
इबारत है इश्क
जिसे धुल नहीं सकता कोई पानी
रोकी नहीं जा सकती जिसकी रवानी

वह प्रेम ही क्या
जिसे लगा दे कोई
जिसे बुझा दे कोई

देखो,मैं आया हूँ तुम्हारे पास निवेदन लेकर
लरज रही है मेरी आवाज
पैरों में कम्पन है आम की पत्तियों सा
बस थोड़ी सी जगह दे दो पुतलियों में कहीं
मैं चुपचाप वहीं बैठा गुजार दूँगा उम्र।

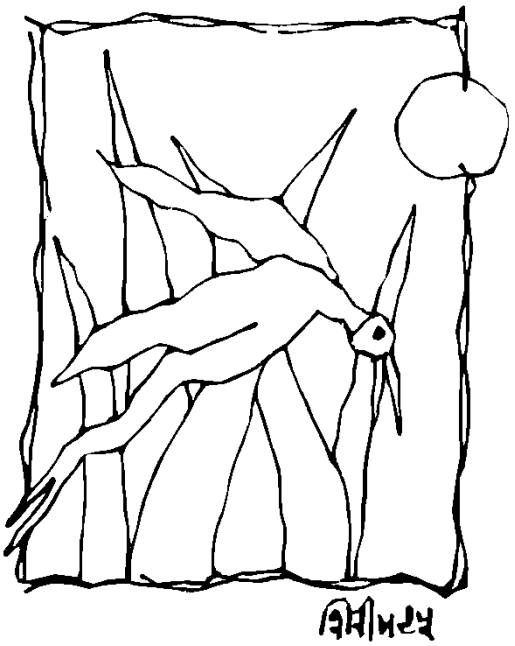

बापू की लाठी पर टिकी है पृथ्वी

रोहित कौशिक की कविताएँ

कवि का कथन

कविता मेरे लिए जीवन को समझने का माध्यम है। हर व्यक्ति जीवन को किसी न किसी तरह से समझने का प्रयास करता ही है। कवि या कथाकार के लिए जीवन वृहद रूप में सामने होता है। इसलिए उसके लिए जीवन को समझने का नजरिया भी भिन्न और बड़ा फलक लिए हुए होता है। युगों से कवि यह समझने का प्रयास कर रहे हैं कि कविता आखिर है क्या ? इस प्रश्न का कोई बँधा-बँधाया उत्तर मिलना भी कठिन है। मैं और मेरे समय के अन्य कवि भी इसी प्रश्न का उत्तर खोज रहे हैं। मेरे लिए अपने समय की सच्चाई को पकड़ने का प्रयास ही कविता है। जरूरी नहीं कि मैं इस प्रयास में सफल होऊँ। इस दौर में कविता कला भर नहीं है, बल्कि एक कदम आगे बढ़कर अपने समय का यथार्थ है। निश्चित रूप से कविता में बिम्बों और प्रतीकों का अपना महत्व है लेकिन न जाने क्यों मुझे बिम्बों और प्रतीकों से आक्रान्त कविता सच्चाई से मुँह मोड़ती हुई नजर आती है। सुखद यह है कि इस दौर की कविता आँखों में आँखें डालकर बात कर रही है।

इस समय कविता में छन्द को लेकर बहस चल रही है। विडम्बना यह है कि इस अँधेरे समय में हमारे जीवन से लय गायब होती जा रही है। अगर हमने इस दौर की सच्चाई को पकड़ लिया तो शायद हम जीवन की लय को भी पकड़ पाएँगे। कविता के माध्यम से इस लय को पकड़ने की कोशिश ही में कोई रास्ता दिखा पाएगी।

- रोहित कौशिक

बापू-एक

बापू!
वे तुम्हारे पुतले को
गोली मार रहे हैं

पुतले की रगों में
खून नहीं दौड़ता
इसलिए दोबारा नहीं बहाई जा सकती
खून की नदी।

और पुतले भी
कहाँ गोली चला सकते हैं
पुतले पर?

बापू-दो

बापू !
वे तुम्हारी लाठी को
हिंसा का प्रतीक बताते हैं

लाठी कहाँ हिंसक होती है
हिंसक होते हैं
लाठी चलाने वाले हाथ।
उन्हें नहीं दिखाई देती
निर्बल शरीर को
सहारा देती लाठी।
या बुढ़ापे की लाठी

उन्होंने ढूँढ़ ली है
बुढ़ापे की लाठी में भी हिंसा
ये वहीं लोग हैं
जो अपने माता-पिता की लाठी
में भी ढूँढ़ लेते हैं हिंसा।

एक आँख से देखो

तुम्हारे दादा लाठी पकड़कर
घूम आए हैं खेत।

देखो दूसरी आँख से
तुम्हारी दादी
पड़ोस वाली चाची से बतियाकर
लाठी पकड़ चली आ रही हैं।

तीसरी आँख से देख पाते
तो देखते
बापू ने पकड़ ली है लाठी
अहिंसा समा गई है
लाठी के पोर-पोर में
अहिंसक लाठी के सामने
फीकी है अंग्रेजों की हिंसक लाठी।

शेषनाग के फण
कच्छप की पीठ
और गाय के सींगों पर नहीं
देखो
बापू की लाठी पर
टिकी है पृथ्वी।

बापू-तीन

बापू ! तुम्हारे चश्मे से
आपत्ति है उन्हें
तुम दुनिया देखते हो
अपने चश्मे से
जबकि वे तुम्हें देखते हैं
अपने चश्मे से
हालाँकि उन्हें नहीं मालूम
अपने चश्मे का नम्बर।

जब उनसे पूछा जाता है
उनके चश्मे का नम्बर
तो वे चश्मे का नम्बर न बताकर
एक रंग का नाम बताने लगते हैं

बापू ! तम्हारे उस चश्मे से
आपत्ति है उन्हें
जिससे दिखाई देता है इन्द्रधनुष

बापू ! आपत्ति है उन्हें
तुम्हारे उस चश्मे से
जो हमें धर्मान्धता की
गहरी खाई में नहीं धकेलता
न ये दाढ़ी वाले के काम का है
न चोटी वाले के

बापू ! तुम्हारे समय में
और तुम्हारे बाद भी
तुम्हारे चश्मे से
देखने की कोशिश होती
तो हमेशा उड़ते रहते सफेद कबूतर।

उन्हें पता नहीं चल रहा
बापू के चश्मे के कारण
उजली है बापू की दृष्टि
या बापू की दृष्टि के कारण
उजला है बापू का चश्मा।
***

विदग्ध देहों का जल-स्पर्श - अमिताभ चौधरी की कविताएँ

चयन : प्रशांत विप्लवी

अमिताभ चौधरी की कविताएँ कवि प्रशांत विप्लवी ने अपनी एक टिप्पणी के साथ उपलब्ध करायी हैं। इस सहयोग के लिए अनुनाद प्रशांत जी का आभारी है। इधर के प्रचलनों से अलग ये कविताएँ एक अलग कहन की कविताएँ हैं और बरते गए शब्दों और वाक्यों के अलावा उनके बीच की दूरियों और रिक्तियों में भी मौजूद हैं। अमिताभ चौधरी का अनुनाद पर स्वागत है।

विदग्ध देहों का जल-स्पर्श

कविता उसके सर्वांग में है। उसने स्वभावगत निश्चिंतता के लिए एकाकीपन वाले जीवन को चुना। साहित्य की शाब्दिक तपस्या को उसने यथार्थपूर्ण ढ़ंग से जीना सीख लिया है। उन्हें (अमिताभ चौधरी) मैं एक विशुद्ध कवि मानता हूँ । उनकी कविताओं का अपना एक अलग संसार है। समकालीन कविता के द्रुत लय-ताल वाले बहुधा पाए जाने वाले फॉर्मेट से दूर उनकी अपनी शैली , अपनी भाषा और अपना कथानक है, जो विलम्बित शास्त्रीयता के नियमों पर अग्रसर है। विषयों की विविधता और उन पर बहुआयामी दृष्टिकोण भी उनकी कविता की विशिष्टता है। उनकी कविता संगीत वाली शिष्टता भी कायम रखती है और जबकि अर्थ स्पंदन अपनी संवेदना और चेतना वहन में उतने ही सफल भी हैं।

\- प्रशांत विप्लवी

[एक]

पीड़ा का अंत नहीं है, प्रिये!

वह देखो :
एक नवजात की किलक सुनकर
बाँझ स्त्री के स्तनों में दूध उतर आया है।

देखो प्रिये : दूध के दाब से फटते स्तनों को
वह अपने हाथों से
चुआ रही है।

अपनी रिक्त गोद में वह कितने बच्चे खिला रही है?
खो!

[दो]

किसी अकिंचन की भावना से
रोटी का मूल्य आँकते हुए
मैं क्या कह सकता हूँ? जबकि,
खेत-के-खेत
मेरे समक्ष उपस्थित हैं,

—और अभी-अभी राम बरसा है।

उपस्थितियों के सामने
पृष्ठ टिकाकर कविता लिखने की कल्पना दूभर है,
मित्र!

रोटी को उदर पर रखकर
भूख कै करने के लिए उबकियाँ लेना
असाध्य है।

[तीन]

ओ,
विदग्ध देहों का जल-स्पर्श!
गूढ़,
अकाल,
अंतःस्रावी;

और कितनी मिट्टी तुम्हारे ऊपर है?—

कि मैं,

पृथ्वी की आत्मा से आकंठ मिलूँ
तो कविता का रस बरसे!

[चार]

तैरते-तैरते
नावें सूख गई हैं।

सारा काठ उतर गया है।
[देखो!]

किंतु, तुमने केवल नदी की शांति/
उन्माद और
आंदोलन देखे हैं :

नदी के प्रतिबिंब में मुख देखकर
तुमने केवल
जल की आर्द्र ध्वनियाँ कंठ की हैं।

[ऐसे, एक वृक्ष की काया काटना अच्छा बात नहीं है, व्यक्ति!]

[पाँच]
मरूस्थल के एक आकाशीय
विस्तार में
जल के लिए मछली की तड़प है—

समुद्रों/
नदियों/
झीलों/
तालों से कहीं दूर
मछली की तड़प।

: ग्रीष्म की एक दोपहर
मैं बाएँ डग से चप्पल उतारकर
बालू को स्पर्श करता हूँ, "मेरे राम!"

यदि मैं कहना चाहता हूँ : मेरे पैरों में
चप्पलें हैं, इसलिए
मैं मछली की तड़प को नहीं पहुँचा हूँ;
तो तुम कहना, " हाँ!"

तुम कहना मेरे प्यार! ...

[छह]

दूर तक—
बहुत दूर तक
एक नीलगाय है;
[केवल एक नीलगाय।]
कुछ होने के भय से चौंकी हुई :
जन्मने को योनियाँ टोहती मेरी आत्मा
उसकी आँखों में होनी चाहिए!०००
[यद्यपि,

मैं उसे सूझ जाऊँगा तो वह 'धक्' से रह जायगी।]

[सात]

ओ मेरी प्रभुता!

तुम कहाँ जगलों में रह गई।

मैं कहाँ नगरों में खो गया।

धरती के ऊपर आकाश इतना क्या हो गया कि
एक कविता में भटकता हुआ आहत मैं कि
मैं दुःख के लिए रो सकता हूँ :

घास-फूस तक जाकर
मैं तुम्हारे लिए पृष्ठ हो सकता हूँ
यदि निरक्षर
तुम मुझे पढ़ती हुई मिलो :

मैं नग्न हो सकता हूँ
कि मैंने वस्त्र पहने हैं, इसलिए
तुम मुझे अश्लील कहो ...

[आठ]

मैं तुम्हें देखता हूँ
और तुम्हें सुंदर कहता हूँ।

तुम्हें देखते हुए
मैं तुम्हारी आत्मा से भर जाता हूँ :
तुम्हारा वक्ष।—
तुम्हारा दर्प।—
तुम्हारी आन।—

तुम्हारी नाभि के वृत्त में मैं पृथ्वी को घूमते हुए देखता हूँ
और शून्य साध लेता हूँ।

तुम्हारी स्पृहा की कल्पना में
मैं अपने रोयों से निकलता हूँ और
ऐसे स्थिर होता हूँ
जैसे कहीं चला गया।

[नौ]

रात भर मैं ने अँधेरा देखा :
निष्प्रभ उजाले को कोख देता
केवल अँधेरा।

पलकें उठाने व गिराने को एकसार करता यह समय
प्रतिबिंब झाँकने के लिए कितना उपयुक्त है? कि
मैं केवल स्पर्श करके अपना मुख
देख सकता हूँ।

मैं समझता हूँ [जैसे मैं समझता हूँ] :
पानी प्रतिबिंब की काया से
मुझे मेरा मुख दिखाकर झील की तहें लोका लेता है कि
मेरे समक्ष गहराई का अभिप्राय प्रकट हो,—
अँधेरे-सा स्पष्ट औ'
निष्कलुष।

[पानी : समय जैसा पारदर्शी पानी। ...]

[दस]

बाँझ के बेटे-सा
एक विचार सुमुखी
जन्म ले रहा है।

यदि,
तुम योनियाँ लहुलुहान होने को आवश्यक नहीं समझते हो
तो मेरी कोख को टटोलो।
[टटोलना जैसे स्पर्श करना है।]

तुम यह समझने का यत्न करो कि मेरी पीड़ा प्रसवदर्श नहीं है

,,और —और मेरी रिक्त गोद में एक शिशु
का भार है :
पृथ्वी जैसे गोल और
हरा।

[ग्यारह]

शुष्क जल की कल्पना में
आर्द्र काठ की इच्छा से
मैं तहों-की-तहों डूबा हूँ।

मुझे तैरती नावों से प्रयोजन है : नहीं है।

मेरी साँस के बुलबुले
तुम्हारे हाथ आते हैं तो अच्छी बात है।—

मेरी देह तुम्हारी नाव को छूती है तो छूने दो : मत छूने दो!

मिट्टी पर ढेर हुई मछली की दो आँखों के एक बिंदु पर
मेरी भौंहों का बीच है,
इसी को यथार्थ समझकर तुम मेरी टोह लेना : नहीं लेना!!
***

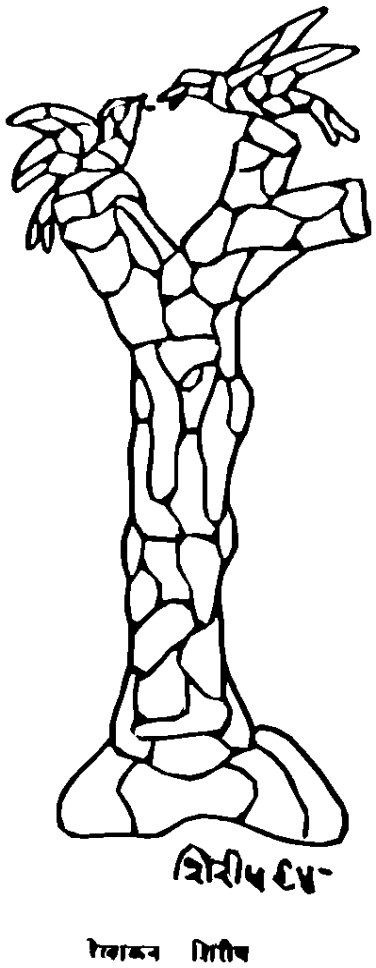

लोगों को दुखों के कलात्मक ढाँचे आकर्षित करते हैं

जोशना बैनर्जी आडवाणी की कविताएँ

कुछ दिन पहले ओम निश्चल के एक आलेख में जोशना बैनर्जी आडवाणी का उल्लेख मैंने देखा, फिर फेसबुक पर उनकी कविताएँ पढ़ीं। उनसे अनुनाद को ये कविताएँ मिली हैं। आप अवश्य ही यह महसूस करेंगे कि कविता में अहिन्दी-से प्रतीत होते इस डिक्शन में हिन्दी एक अलग ही सौंदर्य और प्रभाव के साथ सम्भव हो रही है। पूरब में की गई सुदीर्घ यात्राओं के पाथेय जैसी ये कविताएँ अवश्य ही पाठकों द्वारा सराही जाएँगी। अनुनाद पर जोशना का स्वागत और शुभकामनाएँ।

कवि का कथन

पृथ्वी की देह पर बालू और सरपतों से गुज़रते हुए कई घाट, गिरी, देवल, करील, छीमियाँ, वृक्ष और खेत पार करता हुआ मन उसी जगह ठहरता है जहाँ दारूण दुःख के समय में दो मन अलग हुए थे, दुःख इतना कि पक्षी की चोंच में दबा तिनका भी मन को शांत ना कर सके, भूख इतनी रही कि भात के चार दाने दानव लगते, देव सारे मेरे ही बिस्तर पर सोते मिले, आरसी उपहास करती थी, परितृप्ति कौन देता?

कौन देता कविताएँ, कौन ही सिखा सकता था परमार्थ, कौन गिराता अनाजों का मूल्य, कौन जगाता टिमटाम की ललक, सूती साड़ी की साज देख कौन पूछता ये साड़ी कहाँ से ली?

ये मन किंकिणी बन चुका है, स्मृतियों की छुअन इसे हिला देती है, इसके हिलते ही हिलती है समूची पृथ्वी, हिलता है देह का ताप, दंत पंक्ति टिटकारती है और छीन जाती है कविता लिखने की मुकुलित कला। कविता, देह और अनाज के बिना बैठा मनुष्य सहदारी का ऋण कैसे चुकाये, उन्हीं रास्तों का ऋण जिनपर चलते हुए हम आये थे और रह जाते हैं मात्र अकेले।

इस अकेलेपन में जीवन धनेश है।

मुझे कविताएँ लिखने के लिए धन, प्रेयस, साजसज्जा की ज़रूरत नहीं। एकांत की ज़रूरत है।

***

कटिंग ज़िन्दगी ....

क्या क्रान्ति है कि
हल्दी, नमक, तेल, धनिया
जानते हैं अपने मिश्रण की मात्रा

क्या सभ्यता है कि
झींगुर, मेंमने, गधे, ऊँट
समझते हैं अपनी कार्यप्रणाली

क्या गोरखधंधा है कि
प्रेम, परवाह, त्याग, स्नेह
इन्हें पनाह नही अनाथालय में भी

क्या मुर्दा चुप्पी है कि
देवालय, पहाड़, पेड़, नदी
न्यायपालिका के सदस्य नहीं रहे

क्या ज़लज़ला है कि
बम, सुहागा, लकड़ी, फ़ूस
आग लगा पाने की दूसरी शर्त हैं

क्या बेसुआदी है कि
मूँगबड़ियाँ, सौंठ, गुड़, मुरब्बे
दादी नानी की रसोई के कोने में पड़ी हैं

क्या कौंध है कि
नींद की गोली, बढ़ता बीपी, नसकम्पन
रात के तीसरे पहर के इश्क में पड़े हैं

क्या कारोबार है कि
रंगमंच, पुस्तकालय, कवितायें
अर्थशास्त्र के विलोम ही रहेंगे सदा
***

अहम ....

मेरे हृदय में आ बसी हैं जाने कितनी ही शकुंतलाएँ
जाने कितने ही दुर्वासाओं का वास है हमारे बीच

मुझे अपनी वेदना के चीत्कार के लिए
अपना कमरा नहीं
एक बुग्याल चाहिए
चाहिए एक नदी, एक चप्पू चाहिए

कोई देवालय मेरे प्रेयस से पवित्र नहीं
कोई धूप मेंरी प्रेमकविता से गुनगुनी नहीं

हे जनसमूह! हे नगरपिता!
तुम मेरे अन्दर से तो निकाल सकते हो कविता
पर उस प्रेमकविता से मुझे बाहर नहीं निकाल सकते
***

मज़दूर ईश्वर ....

अनुपस्थितियों को सिखाई
सोलह कलायें
गुनाह के अनेक तथ्य बनाकर
प्रायश्चित्त को मोक्ष दिया

संगीत के लय में प्रेमियों की
आत्माओं के लिये गुंजाइश रखी
वचन के साथ बांध दिया
दैनिक अभ्यास

दुधमुंहें बच्चों को शब्दकोश
से दूर रखा

टिप्पणियों में भर दी छंटाक
भर निर्लज्जता

ईश्वर से बड़ा मज़दूर कौन ....
***

अलबत्ता प्रेम ....

ईश्वर ने सोचा
ये सुन्दर है

नदी ने सोचा
ये पीछे छूटी स्मृतियों की टीस

पर्वत ने सोचा
ये गर्व से नीचे देख पाने की कला

मल्लाह ने सोचा
ये आंधियों के लिये गाया गया विदागीत

चिड़िया ने सोचा
ये आकाश की छाती का बहुवचन

आदमी ने सोचा
जीवन काटा जा सकता है

स्त्री कुछ सोच ना सकी
धम्म से गिर पड़ी

एक स्त्री के गिरने से

ब्रह्मांड का कद कितना ऊँचा हुआ

प्रेम ने
इस ब्रह्मांड को सौ संभावनाएँ दीं
और उस पर स्त्रियों को दे दी
नर्म हथेलियां

दोनों हथेलियों को मिला
गाल के नीचे लगाकर स्त्रियों को अब
सो जाना चाहिये

ये नर्म हथेलियाँ
कोई गुनाह ना कर बैठे ....
***

तफ़रीह....

जीवन के सबसे कठिनतम और सबसे क्रूर समय में
क्या किया
कुछ ख़ास नही
बस कुछेक अक्खड़ कविताएँ लिखीं

छाती को कैसे समझाया कि जो धँसा हुआ है वह
साँस लेता रहेगा
कुछ ख़ास नहीं
बस श्रृंगार कर के आरसी में खुद को निहारा

ऊँचे आकाश को ताकते वक्त मन में क्या करने की
कसके ठानी
कुछ ख़ास नहीं
यही कि यात्राओ के लिये पैसा इकठ्ठा करूँ

सूरज की पहली किरण और चिड़ियों की पहली उड़ान
देखकर क्या किया
कुछ ख़ास नहीं
नौकरी पर समय से पहले पहुँची

सही समय पर बोनस ना मिलने पर कैसे चीज़ों का
बंदोबस्त किया
कुछ ख़ास नहीं
बच्चों को पंचतन्त्र की कहानियाँ सुनाई

प्रेम में हारने पर ऐसा क्या किया जिससे
जीवन जीने लायक़ बना
कुछ ख़ास नहीं
शाम के वक्त एक पार्ट टाईम जॉब कर ली

देह के सबसे भारी अंग का क्या किया जो तुमसे ढोया
नही गया
कुछ ख़ास नही
वृद्धआश्रम के बाहर चहलक़दमी की

सोचे गये दिये उत्तर में और बिना सोचे गये दिये उत्तर
में कैसे अन्तर किया
कुछ ख़ास नही
सोच कर गये दिये उत्तर में प्रेम नही मिला
***

बाबा अब क़िस्से नहीं सुनाते ....

बाबा के कंठ में ग्रह बसा था
उनके किस्सों में नियाग्रा फौल्स की उग्रता का
भरसक शोध था

काला सागर और बुल्गेरिया के क्षेत्रफल
उनकी हथेलियों
पर आकर ठिठका करते थे

रेलगाड़ी से उठता धुआँ जिन्न बन जाता था
जादू से यकायक
तूफान तानाशाही करते थे

कठठोकरा टकटक करके

संगीत बुन दिया करता था
बेलें मटकती बलखाती हुई
कंचनजंगा चढ़ जाती थीं

कई कई अरब वर्षों की घड़ी
वक्त की झालर पर ठहरती थी
आलू बुखारे के खेतों में
जुगनू जासूसी किया करते थे
जैतून के पेड़ पर चाँद
ध्रुवस्वामिनी को ताकता था

सूरज के सारथी
गिलहरी के कोटर में बौने बन
अपनी तनख्वाह गिनते थे

लोहार के कँधे पीटमपीट में अपना मुँह लटका लेते थे

बाबा अब क़िस्से नहीं सुनाते
जीवन गढ़ता है ऐसे क़िस्से जो बाबा को दोहराते हैं
....

नियाग्रा फौल्स और काला सागर
आँखों की गंगोत्री से जब जब बहते हैं तो
हौसलों के तूफान
अब भी
तानाशाही कर उठते हैं

तलवों की बेलें कंचनजंगा
झटपट चढ़ जाती हैं
ध्रुवस्वामिनी अब भी
नवयौवना है लेकिन चाँद
थोड़ा सा मनचला हो गया है

अंधेरी सुरंगों में जुगनू टौर्च
लिये आगे पीछे चलते हैं
सूरज के नीचे तनख्वाह
गिनते ही तनख्वाह से सन्यास मिल जाता है

लोहार का लटका हुआ मुँह
देखकर
एक और दिन
शान से जीना आ जाता है

एक बच्ची कहीं सोती है
एक औरत कहीं जागती है
पर बाबा अब क़िस्से नहीं सुनाते
***

अंतयेष्टि से पूर्व ....

हे देव
मुझे बिजलियाँ, अँधेरे और साँप
डरा देते हैं
मुझे घने जंगल की नागरिकता दो
मेरे डर को मित्रता करनी होगी
दहशत से
रहना होगा बलिष्ठ

हे देव
मैंने एक जगह रुक वर्षों
आराम किया है
मुझे वायु बना दो
मैं कृषकपुत्रों के गीले बनियानों
और रोमछिद्रों में
समर्पण करूँ खुद को

हे देव
मैं अपने माता पिता की
सेवा ना कर सकी
मुझे ठंडी ओस बना दो
मैं गिरूँ वृद्धाश्रम के आँगन के
गीले घासों पर

वे रखें मुझ पर पाँव और मैं
उन्हें स्वस्थ रखूँ

हे देव
मैं कभी सावन में झूली नही
मुझे झूले की मज़बूत गाँठ बना दो
उन सभी स्त्रियों और बच्चों को
सुरक्षित रखूँ
जो पटके पर खिलखिलाते हुये बैठे
और उतरे तो तृप्त हो

हे देव
कुछ लोगों ने छला है मुझे
मुझे वटवृक्ष बना दो
सैकड़ों पक्षी मेरे भरोसे
भोर में भरे उड़ान और रात भर करे
मुझमें विश्राम
मैं उन्हे भरोसेमंद सुरक्षित नींद दूँ

हे देव
मेरा सब्र एक अमीर
नवजात शिशु है
हर क्षण देखभाल माँगता है
मुझे एक हज़ार आठ मनको वाली
रूद्राक्ष माला बना दो
मेरे सब्र को होना
होगा अघड़

हे देव
मुझे चिठ्ठियों का इंतज़ार रहता है
मुझे घाटी के प्रहरियों की पत्नियों का
दूत बना दो
उन्हें भी होता होगा संदेसों
का मोह
मैं दिलासा दे उन्हें व्योम
कर सकूँ

हे देव
मैंने सवालों के बीज बोये
वे कभी फूल बन ना खिल सकें
मुझे भूरी संदली मिट्टी बना दो
मैं तपकर और भीगकर
उगाऊँ कई कई
सैकड़ों खलिहान

हे देव
मैं धरती और सितारों के बीच
बेहद बौनी लगती हूँ
मुझे ऊँचा पहाड़ बना दो
मैं बादल के फाहों पर
आकृतियाँ बना उन्हें
मनचाहा आकार दूँ

हे देव
मैं अपनी पकड़ से फिसल कर
नही रच पाती कोई दंतवंती कथा
मुझे काँटेदार रास्ता बना दो
मेरे तलवों को दरकार है
टीस और मवाद के ठहराव की
अनुभव लिखने को

हे देव
चिकने फर्श पर मेरे
पैर फिसलते हैं
मुझे छिले हुये पंजे दो
मेरे पंजों के छापे
सबको चौराहों का संकेत दें और करें
उनका मार्गदर्शन

हे देव
मेरे आँसू घुटने टिका
बहने को तत्पर रहते हैं
मुझे मरूस्थल बना दो

वीरानियों और सूखी धरा को
ये हक है कि वे मेरे अश्रुओं
को दास बना लें

हे देव
प्रेम मेरी नब्ज़ पकड़
मेरी तरंगें नापता है
मुझे बोधिसत्व का ज़ख़ीरा बना दो
त्याग मेरा कर्म हो
मुझे अस्वीकार की
स्वतंत्रता चाहिये

हे देव
मेरे कुछ सपने अधूरे रह गये है
मुझे संभव और असंभव के बीच की
दूरी बना दो
मैं पथिकों का बल बनूँ
उनकी राह की
बनूँ जीवनगाथा

हे देव
मैंने अब तक पुलों पर सफ़र किया है
मुझे तैराक बना दो
मैं हर शहरी बच्चे को तैराकी
सिखा सकूँ
शहर के पुल बेहद
कमज़ोर है

हे देव
मेरे बहुत से दिवस बाँझ रहे है
मुझे गर्भवती बना दो
मेरी कोख से जन्मे कोई इस्पात
जो ढले और गले केवल
संरक्षण करने को
सभ्यताओं को जोड़े रखे

हे देव
मैं अपनी कविताओं की किताब
ना छपवा सकी
मुझे स्याही बना दो
मैं समस्त कवियों की
लेखनी में जा घुलूँ
और रचूँ इतिहास
***

बू....

मैंने एक जगह रुक के डेरा डाला
मैंने चाँद सितारों को देखा
मैंने जगह बदल दी
मैंने दिशाओं को जाना
मैं अब ख़ानाबदोश हूँ
मैं नखलिस्तानो के ठिकाने जानती हूँ
मैं अब प्यासी नहीं रहती
मैंने सीखा कि एक चलती हुई चींटी एक ऊँघते हुये
बैल से जीत सकती है
मुझे बंद दीवारों से बू आती है

मैं सोई
मैंने सपना देखा कि जीवन एक सुगंधित घाटी है
मैं जगी
मैंने पाया जीवन काँटों की खेती है
मैंने कर्म किया और पाया कि उन्हीं काँटों ने
मेरा गंदा खून निकाल दिया
मैंने स्वस्थ रहने का रहस्य जाना
मुझे आरामदायक सपनों से बू आती है

मैं दुखी हुई
लोगों ने सांत्वना दी और बाद में हँसे
मैं रोई
लोगों ने सौ बातें बनाई
मैंने कविता लिखी

लोगों ने तारीफ़ें की
मेरे दुख और आँसू छिप गये
मैं जान गई कि लोगों को दुखों के कलात्मक
ढाँचे आकर्षित करते हैं
मुझे आँसुओं से बू आती है

मैंने बातूनियों के साथ समय बिताया
मैंने शांत रहना सीखा
मैंने कायरों के साथ यात्रा की
मैंने जाना कि किन चीज़ों से नहीं डरना
मैंने संगीत सुना
मैंने अपने आसपास के अंनत को भर लिया
मैं एकाकीपन में अब झूम सकती हूँ
मुझे ख़ुद के ही भ्रम से बू आती है

मैंने अपने बच्चों को सर्कस दिखाया
मुझे जानवर बेहद बेबस लगे
मैंने बच्चों से बातें की
उनकी महत्वकांक्षाओं की लपट ऊँची थी
मैंने उन्हें अजायब घर और पुस्तकालय में छोड़ दिया
अब वे मुझे अचम्भित करते हैं
मैंने जाना कि बच्चों के साथ पहला क़दम ही
आधी यात्रा है
मुझे प्रतिस्पर्धाओं से बू आती है

मुझे दोस्तों ने शराब पिलाई
मैंने नक्सली भावों से खुद को भर लिया
मैंने जलसे देखे
मैंने अपना अनमोल समय व्यर्थ किया
मैं खुद ही मंच पर चढ़ गई
मेरे दोस्त मुझपर गर्व करते है
मैंने जाना कि सम्राट सदैव पुरुष नही होते
मुझे ख़ुद के आदतों से बू आती है

मुझे कठिनाईयाँ मिलीं
मैंने मुँह फेर लिया
मैंने आलस बन आसान डगर चुनी
मुझे सुकून ना मिला
मैंने कठिनाईयों पर शासन किया
मेरी मेहनत अजरता को प्राप्त हुई
मैंने देखा कठिनाई अब भूत बन मेरे
पीछे नही भागती
मुझे बैठे हुये लोगों से बू आती है

मैंने प्रेम किया
मैंने दारूण दुख भोगा
मैंने अपने प्रेमी को दूसरी औरतो से अतरंगी
बातें करते देखा
मैं जलती रही रात भर
मैंने प्रेम को विसर्जित कर दिया
प्रेम ईश्वर के कारख़ाने का एक मुद्रणदोष है
प्रेम कुष्ठ रोग और तपैदिक से भी भयंकर
एक दिमाग़ी बीमारी है
मुझे उस पल से बू आती है
जब मैंने प्रेम किया
***

जो पैर कभी नहीं चलते वो गप्प लगाते हैं

गौरांशी चमोली की कविताएँ

गौरांशी चमोली की कविताएँ मैंने फेसबुक के एक पेज पर हुए लाइव में सुनीं। जीवन और समाज की बुनियाद समझ से भरी इन कविताओं में मुझे सहजता का वो दुर्लभ-सा सिरा हर कहीं मौजूद मिला, जिसकी हमारी किंचित विकसित और जटिल जीवनशैली में अब याद भर रह गई है। प्रकृति और पर्यावास से कवि का सहज जुड़ाव, पेड़ों से दोस्तियाँ, जंगल की कहानियाँ, बाघ-रीख आदि की हमें नॉस्टेल्जिक बनाती याद तो यहाँ दी जा रही कविताओं में है ही, इस कठोर संसार में स्त्री होने की मुश्किल का एक तीखा समकालीन अहसास भी यहाँ है। गौरांशी का अनुनाद पर स्वागत है और अनुनाद उन्हें कविता में सध जाने की नहीं, सहज रहने की शुभकामना देता हैं।

कवि का कथन

मुझे लिखना अच्छा लगता है क्योंकि, मैं जिन जगहों या चीजों से लगाव महसूस करती हूं, उनकी याद बनाए रखना चाहती हूं। मैं उनके होने ,खिलने ,बने रहने, टूटने, ख़त्म होने की खुशी और पीडा को महसूस कर पाती हूं । मुझे हर चीज में एक कहानी दिखती है। मैं उस कहानी को पढना चाहती हूं। मैं चाहती हूं अगर कोई मेरा लिखा हुआ कुछ पढे तो वह भी कुछ- कुछ वैसा ही महसूस कर पाए। मुझे लगता है हमें दुनिया को देखने -समझने के बने बनाए और पारंपरिक तरीकों के अलावा नए नज़रियों से भी देखने की कोशिश करनी चाहिए। प्रकृति की बनायी हर चीज अपने आप में अलग और अनूठी है। इस विविधता का सम्मान व सुरक्षा होनी चाहिए। दुनिया को एक ऐसी जगह होना चाहिए जहां हर एक पत्ते, पेड़, जानवर,नदी, हम सबको रहना - होना अच्छा लगे।

\- गौरांशी चमोली

पैर

सबसे आगे चलने वाले पैर
खोजते बनाते हैं रास्ता
एक पूरी नयी पीढी के लिए

निरंतर चलते रहने
कभी न थकने वाले पैर
रचते हैं नया - बेहतर इतिहास

सबसे पीछे चलने वाले पैर
बनाते हैं नए कायदे
नेतृत्व के कायदे

गिर कर उठ फिर चलने वाले पैरों के पास होती हैं
सबसे रोचक कहानियां

लेकिन
गिर कर फिर न उठने वाले पैरों को
चोटी की नरम घास जादू नहीं दिखाती

और जो पैर कभी नहीं चलते
वो गप्प लगाते हैं
चढाई आसान होने की गप्प।
***

बच्चियां

मुसाफ़िर हो जाने से
जगह के साथ
नाम बदलते हैं

संस्कृति बदलती है
पत्तों की ख़ुशबू बदलती है
धान का रंग बदलता है

मिट्टी में पानी बदलता है
चिड़ियों की आवाज़ बदलती है

बस स्त्रियां एक-सी मिलती हैं
सबसे पहले उठकर
सबसे बाद में सोने वाली
जंगलों के गीत गाने वाली

भैंस के बच्चे को प्यार करने वाली

बच्चियां भी एक सी मिलती हैं
प्यारी चुलबुली
बेवजह उग आने वाली घास जैसी।
***

हम आज़ाद हैं

हम आज़ाद हैं
जब तक हमारे सिर झुके हैं

जब तक हम मौन खडे हैं
ये सडकें, ये नदी, वो आसमान
सब हमारा है
जब तक हमारे हाथ
भीख में रोटी के लिए उठते है

बस सिर उठाकर
अपना हक़ मांगने पर
हम अपराधी हो जाते हैं ।
***

जंगल 1

क्या एक पेड की मौत का शोक
जंगल मनाता होगा ?
मनाता ही होगा मैने देखा है उसे
सुलगते हुए।
***

जंगल 2

वे जो बड़ा-सा चीड़
अपनी पत्तियों की उलझन में
सूरज की असीम ऊर्जा
छिपाए बैठा है
मेरा दोस्त है।
***

जंगल 3

ख़ूबसूरती के भीतर मज़बूती छिपाए
तेज़ हवा के झोंकों में
दूर उड़ा जा रहा है वह
एक बीज
एक बड़े-से पेड़ का बहादुर बच्चा
***

जंगल 4

जंगल का रखवाला होना
आसान नहीं होता

क्योंकि जंगल का रखवाला होने से
जंगल की दावेदारी नहीं आती

आपको लड़ना पड़ता है
जंगल से
व्यवस्था से

जिसके पास ताक़त है
दावेदारी ले लेने की

बाज़ार से
जो जब तब ख़रीद सकता है दावेदारी।
***

जंगल 5

जंगल हूं मैं
नदी का पाला हुआ
कभी बर्फ़ से ढँका
कभी चीड-सा सूखा
खूबसूरत हूं
सड़क किनारे हुआ वृक्षारोपण नहीं
बेबुनी
तुम्हारी पहुंच से परे
मेरी खूबसूरती खलेगी तुम्हें
चुभन देगी आंखों को

क्योंकि बांध नहीं पाओगे मुझे
जानती हूं मैं
समझती हूं
जंगल हो जाना
तुम्हारे ख़ूबसूरती के मायनों से परे है

तुम्हें आंगन के पेड पसंद हैं।
***

वो काम नहीं करती

वो गंवार है
चूल्हा जलाती है
कमजोर है

घीडे का भार उठाती है
मूर्ख है
जंगल बचाती है

अनपढ है
धरती चीर के धान उगाती है

कम अक्ल है
नदी के गीत गाती है

वो कहते हैं
उसमें सार्मथ्य नहीं
इसलिए काम नहीं करती ।
***

पत्ते

पत्ते टूटते हैं
सूखते हैं
मरते नहीं है

इनमें ज़िन्दा रहती हैं
बरसात तूफ़ान से जीती गयी जंग
रिसते डांडों में बने रहने का साहस

बाघ के पंजे पर
घसियारी की दरांती की जीत

एक छोटे भोटिया कुत्ते की आंख के ऊपर पड़े
पंजे के निशान के पीछे का राज़

सर्दियों की धूप में
पहाड की चोटी की नींद

रीख के हाथों से जिंदा निकल आने की कथा सुनाते हुए
पी गयी चाय
इनमें जिंदा रहती है
***

क्योंकि उसे सिर्फ़ शब्दों से नहीं लिखा जाता

रश्मि भारद्वाज

हिन्दी कविता में इधर चली बहसों पर युवा कवि रश्मि भारद्वाज की यह प्रतिक्रिया एक लेख के रूप में मिली है। युवा कवियों की ओर से ऐसे हस्तक्षेप भले ही बहुत न हों, पर इनका होना आश्वस्त करता है। रश्मि का अनुनाद पर स्वागत है। शीघ्र ही हम उनकी नई कविताएँ भी यहाँ साझा करेंगे।

उम्मीद नहीं छोड़ती कविताएँ

उम्मीद नहीं छोड़ती कविताएँ
वे किसी अदृश्य खिड़की से
चुपचाप देखती रहतीं हैं हर आते जाते की ओर
बुदबुदाती हैं
धन्यवाद धन्यवाद!
-केदारनाथ सिंह

इन दिनों सोशल मीडिया पर रमने वाले हिन्दी साहित्य समूह में कविताएँ फिर से विवादों के केंद्र में है। यूं तो आए दिन आभासी संसार में बसते हिन्दी लेखक-पाठक समूहों में तुमुल कोलाहल कलह की स्थिति बनी ही रहती है लेकिन अक्सर इस वाद-विवाद -संवाद के केंद्र में हिन्दी कविता हुआ करती है। यह भी विचित्र विसंगति है कि आभासी जगत में लिखने का सुलभ मंच प्राप्त होने पर फेसबुक, ब्लॉग, वेबसाइट आदि डिजिटल मंचों पर सबसे अधिक कविताएँ लिखीं जा रहीं हैं। दूरस्थ प्रदेशों में रहने वाले युवा, बुजुर्ग, घरेलू स्त्रियाँ, जिनके लिए हिन्दी साहित्य के सात तालों में जकड़े दरवाज़े को खोलना आसान नहीं था, सहजता से उपलब्ध इस मंच पर अपनी लेखनी से पहचान बना चुके हैं। लेकिन जितनी अधिक कविताएँ लिखीं और पढ़ी जा रहीं हैं, उतना ही उनके लिए लिए वितृष्णा और संशय का वातावरण भी तैयार हो गया है। आए दिन कविता और कवियों को लेकर हिंसक मज़ाक और व्यंग्य आम बात हो गए हैं। कई लोगों को दिक़्क़त है कि इतनी कविताएँ लिखीं क्यों जा रहीं हैं, हर तीसरा व्यक्ति कवि क्यों हैं! इस बात का साधारण सा उत्तर है कि इतनी सारी घृणा, द्वेष, हिंसा के युग में भी अगर इतनी कविताएँ लिखीं जा रहीं हैं तो यह एक सकारात्मक बात है। दिवंगत कवि केदारनाथ सिंह जी की ही पंक्तियों में कहा जाए तो कविताएँ इस नाउम्मीद समय में मनुष्यता की उम्मीद हैं। जब तक कविताएँ रचीं जा रहीं हैं, प्रेम, विश्वास और मानवता शेष होने की उम्मीद पाली जा सकती है।

छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति

कोरोना के हाहाकार के बीच इन दिनों जब साहित्यिक गोष्ठियों की मनाही है, हिन्दी कविता पर फिर ज़ोरशोर की बहस जारी है। कारण है हिन्दी कविता की राजनीति के बहाने 'लाइवासीन' कवियों , आलोचकों का अपनी राजनीति का सार्वजनिक मंच से प्रदर्शन जो कविता की तरह 'सर्व जन हिताय, सर्व जन सुखाय' का उद्देश्य लिए चलती तो कतई नहीं मालूम पड़ती है। एक तरह से देखें तो कविता की राजनीति के बहाने साहित्य की सत्ता के शीर्ष पर जा पहुँचने, अपने शिष्यों, समूहों के हितों की सुरक्षा और नयी पीढ़ी को आकर्षित करना ही इसका उद्देश्य दिखा। ऐसे ही एक लाइव मंच से घोषणा की गयी कि वर्तमान कविता अप्रासंगिक हो गयी है और एक दशक तक कवियों को कविताएँ लिखना छोड़ देना चाहिए ताकि नयी पीढ़ी बिना किसी पूर्वाग्रह के, नए विचारों के साथ आए और कविता फिर से समाज में अपनी ठोस जगह बना सके। यह मुनादी किए जाने के पीछे कारण दिया गया कि कविता छंद विहीन होकर अपना प्रभाव और अपनी लयात्मकता पूरी तरह से नष्ट कर शुष्क और बेअसर हो उठी है। जब

कविता में कविता ही नहीं बची, तो फिर उसे लिखते रहने का उद्देश्य क्या है!
इन अतिरंजित वाक्यों ने जहां कविता, उसकी उपादेयता, उसके स्वरूप को लेकर आभासी संसार में विवाद उत्पन्न किया, वहीं कवियों, पाठकों को ठहर कर सोचने पर भी बाध्य किया है कि वास्तव में आज हमारे जीवन में कविता की कितनी जगह बची है! बाज़ार के बढ़ते प्रभाव, सत्ता, धर्म और पूंजी के प्रभुत्व के बीच सीमित हो रही मनुष्यता के दौर में आज की कविता कितनी जगह घेरती है, यह प्रश्न प्रासंगिक हो उठा है। क्या छंद से मुक्ति के साथ कविता ने आम जन के हृदय से भी खुद को धीरे -धीरे मुक्त कर दिया है?

कविता में छंद की अपरिहार्यता का मुद्दा उठाए जाने पर यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि क्या बिना छंद के कविता संभव है! यदि कविता किसी छंद के अनुशासन में नहीं बंधी तब भी उसके अंदर एक आंतरिक लयात्मकता समाहित होती है। प्रश्न यह होना चाहिए कि लिखी गयी पंक्तियाँ कविता है या नहीं, यह नहीं कि छंद के बिना कविता संभव ही नहीं है। इसी संदर्भ में निरुक्तवृत्ति में आचार्य दुर्ग का कथन बहुत प्रासंगिक हो उठता है- 'नाच्छनदसि वागुच्चरति इति'- छंद के बिना कोई वाक्य उच्चरित ही नहीं होता है।

वहीं नाट्य शास्त्र में भरत मुनि का कथन है – 'छंदोंहीनो न शब्दोऽस्ति, न छंद: शब्दवर्जितम'- अर्थात छंद से रहित कोई शब्द नहीं, और शब्द से रहित कोई छंद नहीं।

इन आदि मनीषियों के कथन को ही आधार मान कर यह कहा जा सकता है कि गद्य में भी अपना एक आंतरिक लय होता ही है। साहित्य की कोई भी विधा सपाट बयानबाज़ी नहीं हो सकती। कविता हो या कहानी, रचनाकर सोउद्देश्य एक आंतरिक प्रवाह बनाए रखता है जो उस रचना को विशिष्टता प्रदान करती है।

मनुष्यों की तरह कविता की भी मुक्ति होती है

हिन्दी में आधुनिक कविता के जनक माने जाने वाले सूर्यकांत त्रिपाठी निराला ने कहा था –'मनुष्यों की तरह कविता की भी मुक्ति होती है, मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बंधन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छंदों के शासन से अलग हो जाना'।
निराला के लिए कविता में मुक्ति का अर्थ बहुत व्यापक है। किसी भी छंद के अनुशासन से मुक्ति की बात करते हुए दरअसल वह कवि की उस स्वाधीन चेतना की मुक्ति और विस्तार की बात करते हैं जो उसे किसी भी पूर्वाग्रह, सामाजिक, धार्मिक निर्मिति और अंधभक्ति से मुक्त कर उसकी लेखनी को एक व्यापक वितान देती है।
इसी संदर्भ में आधुनिक रूसी साहित्य के जनक अलेक्ज़ेंडर पुश्किन की ये पंक्तियाँ भी इस विमर्श को नए आयाम देती हैं। निराला की भांति 'इस निष्ठुर शताब्दी में मुक्ति का गीत' गाने के लिए प्रयासरत पुश्किन कहते हैं : 'खोजता हूँ संगम मैं, जादूई ध्वनियों, भावों और विचारों का....'

कुछ इसी तरह के भाव के साथ विनोद कुमार शुक्ल की ये पंक्तियाँ हैं :'चारों तरफ़ प्रकृति और प्रकृति की ध्वनियाँ हैं/ यदि मैंने कुछ कहा तो अपनी भाषा नहीं कहूँगा/ मनुष्य ध्वनि कहूँगा'।

कविता रचते हुए कवि अपने विचार, अपनी भावभूमि को अभिव्यक्त करने के लिए हमेशा ही कुछ विशेष ध्वनियों, बिंबों, शब्दों की तलाश में रहता है। यही उसकी कविता को आम गद्य से विशिष्ट बनाते हैं और कविता का रूपाकार देते हैं। बाह्य छंद और लय से मुक्त कविता भी अपने कहन के लिए कुछ जादुई ध्वनियों के संधान में रहती है जो उसके कला बोध और सौंदर्य को परिष्कृत करता है। इसे पढ़ता हुआ पाठक भी उस परिष्कृत संसार में अपनी रुचि, अपने विचारों और भावभूमि को परिमार्जित कर पाता है।

कला के लिए कला बनाम शुष्के काष्ठे तिष्ठति अग्रे

प्राचीन कथा है कि अपनी विख्यात कृति कादंबरी को वृद्धावस्था के कारण पूरा कर पाने में असमर्थ वाणभट्ट ने अपने दोनों पुत्रों को सामने खड़ा एक सूखा पेड़ दिखाकर, उसका वर्णन करने को कहा। एक ने कहा: 'शुष्के काष्ठे तिष्ठति अग्रे' और दूसरे बेटे ने कहा: 'नीरव तरुरिह विलसति पूरत:'। कहना नहीं होगा कि सूख रहे पेड़ के इतने लालित्य भरे वर्णन के कारण वाणभट्ट दूसरे बेटे के उत्तर से प्रसन्न हुए और उन्हें ज़िम्मेदारी सौंपी।

लेकिन यहाँ कविता लिखे जाने के औचित्य और उसकी उपादेयता पर एक सार्वकालिक प्रश्न उठता है। पश्चिम में भी आर्ट फॉर आर्ट सेक और आर्ट फॉर कॉज़ सेक का मुद्दा हमेशा से ही प्रासंगिक रहा है। निश्चित तौर पर कविता का उद्देश्य कुछ श्रृंगारिक, चमत्कारिक वाक्यों के माध्यम से पाठकों का मनोरंजन करना भर नहीं है। जिस विषम समय और समाज में हम जी रहे हैं जहां एक बड़ी आबादी को मनुष्यों को मनुष्य की तरह जीने की आज़ादी भी प्राप्त नहीं है। वंचित वर्गों पर अत्याचार अपनी सभी सीमाएं पार कर चुका है। रंग भेद, वर्ण भेद, लिंग भेद अपने चरम पर है। ऐसे में कवियों का दायित्व बनता है कि उनकी रचनाएँ इस समय का मुखपत्र बने, वंचितों की आवाज़ बन उनके हक़ की लड़ाई को शब्दबद्ध करे। और यह काम निश्चित ही शुष्क काष्ठ को नीरव तरुरिह कहकर पूरा नहीं किया जा सकता। ऐसे विकट समय में जब प्रकृति भी अपने दोहन की चरम सीमा पर खड़ी विलाप कर रही है, हर सूखता और कटता हुआ पेड़ पृथ्वी पर आये खतरों को और बढ़ा रहा है। ऐसे में उसका लालित्यपूर्ण वर्णन समस्या से आँखें मूँद, परिस्थितियों से पलायन करना ही है।

बाकी कविता शब्दों में नहीं लिखी जाती

हम ऐसे समय में जी रहे हैं जब धर्म, सत्ता, पूंजीवाद, बाज़ार की अश्लील साजिशें हमारे मनुष्य होने की पहचान और समझ को ही लीलती जा रहीं हैं। प्रकृति का कोप अपने सबसे भीषण रूप में हैं। ऐसे में अकेली कविता क्या कुछ कर लेगी, यह प्रश्न स्वाभाविक है। कविता शायद अधिक कुछ नहीं कर सकती लेकिन हमारे अंदर के मनुष्य से हमारी पहचान ज़रूर करवाती रह सकती है। मानवता को बचाए रखने के लिए सबसे ज़्यादा ज़रूरी भी यही है कि हम अपने अंदर के इंसान से मिलते रहें, उससे संवाद करते रहें। एक ज़िम्मेदार कविता यह काम बख़ूबी करती रही है। वह हमें समाधान नहीं देती, प्रश्न देती है। हमारी बुद्धि, हमारे स्वविवेक को नष्ट करने की सुनियोजित प्रयासों के बीच हमारे ज़ेहन में आया हर प्रश्न, हर बेचैनी हमारी चेतना के जागृत होने का प्रमाण है।

कविता सिर्फ़ मनोरंजन या पाठकों की कलात्मक अभिरुचि को सिंचित करने के लिए नहीं लिखी जाती है, लेकिन यह भी मानना होगा कि कालांतर में कविता आम जन से दूर होती जा रही है। आज भी एक आम आदमी कविता के लिए सूर, तुलसी या प्रसाद, दिनकर, निराला की शरण में ही जाता है। इसका एक बड़ा कारण कवियों में आम जनता की समस्याओं की समझ और आंतरिक तैयारी की कमी है। जिस हाशिये पर छूट गए वर्ग के लिए कविताएं लिखीं जा रहीं हैं, यदि वही उसका अर्थ ग्रहण नहीं कर पाये तो ऐसी कविताओं के लिखे जाने के औचित्य पर सवाल उठना स्वाभाविक है। अपने शब्द और बिम्ब चयन में अति गरिष्ठ और चमत्कारिक हो रही हिन्दी कविता बस विद्वानों और आलोचकों के ही काम की वस्तु बनती जा रही है जिसके अर्थ में उतरने के बाद वे उसका आस्वाद लेते चमत्कृत हो सकते हैं। वह कविता खेत में काम कर रहे किसान, ईंट ढोते मज़दूर, मीलों पैदल चल

अपने घर जाती गर्भवती स्त्री, शोषण के शिकार बच्चों, स्त्रियों और अन्य वंचित वर्गों के किसी काम की नहीं है।

यह ज़रूरी है कि हिन्दी कविता आम जन के बीच अपनी पहुँच बनाए। वह फिर से उनकी जीवनशैली, उनके संवाद का अंग बने। अपनी समस्याओं, चुनौतियों और जिज्ञासाओं के साथ खड़ा गणतन्त्र का वह अंतिम व्यक्ति भी उसे उतनी ही मज़बूती से दुहरा सके और उसमें अपना चेहरा देख सके। कविता छंदसहित हो या छंदरहित यह प्रश्न ज़रूरी नहीं, ज़रूरी है कि वह इंसानियत और जीवन पर उम्मीद बनाए रखने का अपना उद्देश्य अवश्य पूरा करती चले और आम जनता की चेतना को जागृत करती रहे।

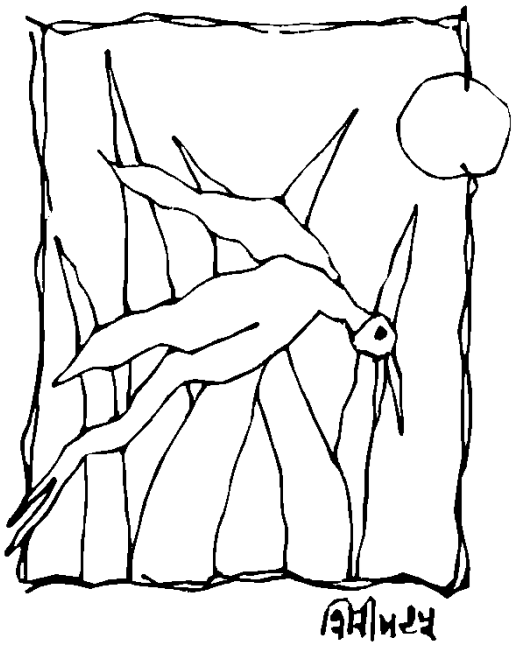

कविता बाज़ार का कोई फिनिश्ड प्रोडक्ट नहीं है। उसका निर्माण कभी खत्म नहीं होता, लिखे जाने के बाद वह अपने अर्थ के माध्यम से हर पाठक द्वारा पुनर्जीवित की जाती है। एक सार्थक कविता की यात्रा कभी खत्म नहीं होती क्योंकि उसे सिर्फ़ शब्दों में नहीं लिखा जाता है। वह मानव हृदय और उसकी चेतना का विस्तार होती है जिसका एकमात्र उद्देश्य हर पूर्वाग्रह और ग्रंथियों से मुक्ति है। कविता मानवता की मुक्ति का उद्घोष है।

कुँवर नारायण के शब्दों में: बाकी कविता शब्दों में नहीं लिखी जाती/ पूरे अस्तित्व को खींचकर एक विराम की तरह कहीं भी छोड़ दी जाती है'।

(यह लेख इससे पूर्व संक्षिप्त रूप में एक दैनिक समाचार पत्र में प्रकाशित है)

जो संताप इन दिनों में भोगा है

शचीन्द्र आर्य की कविताएँ

कवि का कथन

जिन्हें भी अपनी कविताएँ कह रहा हूँ, वह मेरे भीतर से बाहर और बाहर से भीतर आने की प्रक्रिया का विस्तार है। जो कोई भी कुछ कहना चाहता होगा या कह पाता होगा, उसके पास रचने के क्रम में यह ऐसे ही घटित होगा। विषय भी यहीं इसी दुनिया में बिखरे हुए हैं। किस पर लिखना चाहेंगे ? धूप, बारिश, तिलचिट्टे मेज, कुर्सी, दरवाजा , प्रेम, ईर्ष्या, कुंठा या आसमान, बादल, दलदल ? किस पर ? मेरे लिए जो मेरे विषय हुए वह शहर, गाँव और परिवार से शुरू हुए । मुझे कभी समझ नहीं आया, इससे बेहतर शुरुवात मेरे लिए और क्या हो सकती थी।

यहाँ मेरा होना आत्मकेंद्रित लग सकता है पर यह ऐसा है नहीं । जिस तरह यह समय एक व्यक्ति को अलग-थलग कर सबसे कमजोर इकाई मानता है, उसमें यह कविताएं एक कमजोर वक्तव्य तो नहीं पर इस समय का स्पंदन ज़रूर हैं । हम जान ही नहीं पाते हैं, सामने वाला व्यक्ति कैसा महसूस कर रहा है । मैं बस यही सामने वाला व्यक्ति बनने के लिए आपके सामने आ गया हूँ । हो सकता है, यह आपके लिए कभी किसी तरह की कोई असुविधा बन जाये, तब भी बिना दिखे कुछ-कुछ कहना चाहता हूँ । असुविधा से सब बचना चाहते हैं, आप भी बच सकते हैं । विकल्प आपका अपना होगा। उस वक़्त जब आप मुझे नहीं पढ़ रहे होंगे, तब भी मैं, आने वाले कई सालों तक लगातार कहीं किसी कमरे में बैठा कुछ लिखने की कोशिश कर रहा होऊंगा ।

अंतिम बात यही कहना चाहूँगा के इन कविताओं को उस तीसरे क्षण वाले कवि और लेखक से बचाकर लिखने और उसकी छाया से दूर लाने के सिलसिले में इतना ज़्यादा वक़्त बीत जाएगा, यह मुझे भी नहीं पता था ।

1. सुखी आदमी

मेरे मन में हमेशा से एक सुखी आदमी की धुँधली सी तस्वीर रही है ।
कभी वह पिता के चेहरे से मिल जाती, कभी उसमें कोई शक्ल नहीं होती,
बस नाक, मुंह, कान और होंठ होते ।

उस तस्वीर मिल जाने और उसके खो जाने के बावजूद पहला सवाल यही था, यह सुख क्या है ?

हम सब अपने लिए अलग-अलग सुखों की कल्पना करते हैं ।
कभी लगता, अपनी कल्पना में सब अकेले होकर सुख ढूँढ़ लेते होंगे ।

यह नींद सबका एकांत और सुख रच सकती थी,
जिसकी संभावना अब बेकार लगती है ।

मैं तो बस ऐसे ही ख़याल में खोया किसी खाली कमरे में
मेज़ के सामने तिरछा बैठे हुए
वक़्त और मेहनत लगाकर लिखी गयी किताबों को पढ़ लेना चाहता हूँ ।

उन्हें न भी पढ़ पाया, तब भी इसके बाद ही बता पाऊँगा,
जिसे अपना एकांत कह रहा था, वहाँ कितना सुखी था !
***

**

2. दुःख

पीछे से दिखाई दी सफ़ेद बालों वाली खोपड़ी ।
झुकी गर्दन । चीकट से कॉलर ।
पसीना ठंड में उस तरह लकीर बनकर नहीं बहता ।
किसी नमकीन झील की तरह जम जाता है गर्दन पर ।

उन खिचड़ी हो गए बालों की तरह खिचड़ी रही होगी उसकी ज़िंदगी ।
बेतरतीब । बेस्वाद । पसीने का नमक भी नहीं होगा उसमें जीभ के लिए ।

कंधों पर घास के सूखे तिनके थे,
एक बोट थी, एक फुनगा था ।
दुःख वहीं कहीं छिपा बैठा था । दूर से रुई-सा हल्का दिखने वाला ।

पास से वह दुःख ही था,
तिल के दाने जितना । उसी में सब पीड़ा थी ।
कभी दुख में सुख के इंतज़ार का दुख था ।
दुःख ही उसकी धमनियों में ख़ून बनकर खोई हुई चींटी की तरह रेंगता होगा ।

सामने से देखने पर वह आईना-सा लगता ।
जो भी उसकी तरफ़ देखता, मुतमईन हो जाता ।
आहिस्ते से बुदबुदाता
- मैं नहीं हूँ ।

पर उन्हें पता था,
वही फुनगी,
वही बोट,
वही खिचड़ी बाल उनकी तस्वीर में भी हूबहू वैसे ही थे
गर्दन पर पसीने की लकीर की तरह ।

3. पुल होना

वह पुल एक शांत पुल था
किसी नदी के ऊपर नहीं । दो इमारतों के बीच हवा में टंगा हुआ-सा ।
उसका जाना, उन नदियों के ऊपर बने पुलों से पानी का रुक जाना था ।
वहाँ उमड़ते-घुमड़ते मौसम का ठहर जाना था ।
यह दोनों इमारतों के बीच एक संवाद की असंभव संभावना बना रहा ।

पुल मानवता के इतिहास की सबसे बड़ी उपलब्धि रही होगी ।
इसने सैकड़ों पहाड़ियों के उतार-चढ़ाव नदी-नालों की दूरियों को समेटकर दूर दिखने वाली जगहों को कितने पास लाकर खड़ा कर दिया ।

पहाड़ इतने निकट आकर कितने प्रसन्न हुए होंगे ।
सदियों से चुपचाप, थककर खड़े ऊबते रहे । अब वह इस एकांत को भर सकते थे ।
सुख-दुख के साथी बनकर जीने का मतलब
उन्होंने पहली बार पुल के आने के बाद महसूस किया होगा ।
महसूस किया होगा, कितनी बातें उनके अंदर अनकही रह गयी हैं ।
वह उनके अंदर दिल तक उतरने वाली सीढ़ी बनकर आया ।

एक हिसाब से यह हमसे उम्र में बड़ा रहा होगा । हम जब नहीं थे, तब यह था ।
वह हमारी नींद में ही जाता रहा और हमें पता नहीं चल पाया ।
शायद यह उसके चुपचाप चले जाने की कोई चाल रही होगी ।

कि जब तक हम जागते, वह पूरा चला जाता ।

अचानक आँख खुली । बाहर आया । देखा । वह आधा जा चुका था ।
वह रोके से भी नहीं रुकता । उसने किसी को बताया नहीं कि वह जा रहा है ।
उसने अपने जाने के ठीक पहले की शाम, अलविदा भी कहने नहीं दिया ।
वह उस ढलती शाम के अँधेरे में
एक अधेड़ बूढ़े मेहमान की हैसियत ओढ़कर चुपचाप चलता गया
और हमारी आँखों के सामने हमेशा के लिए ओझल हो गया ।

यह सब बातें यहाँ इसलिए भी लिखे दे रहा हूँ क्योंकि यह कोई ऐतिहासिक पुल नहीं था ।
इसे इस किताब के अलावे किसी किताब में जगह नहीं मिलने वाली ।
फ़िर सारा इतिहास तो इसी जगह के छिकाए जाने, थोड़ा सरक जाने के बीच है ।
**

4. अतीत में पीछे लौटते हुए

कभी अपने चारों तरफ देख कर लगता है,
ऐसा वक़्त भी आएगा, जब इन दिनों को पलट कर रख दूंगा ।

किसी ऐसी जगह पहुँचकर इन थके हुए, हार से गए दिनों में
अपनी अकड़ गयी पीठ पर उग आई असफलता की बेल को कुछ और कह पाऊँगा ।
मैं भी इन अतिरेक भरे पलों में सूखते गले के भीतर संगीत की झंकारों से भर जाऊंगा ।

इन सब हारी हुई लड़ाइयों के इतिहास को या तो एक दिन इतिहास से गायब कर दूंगा
या कह दूंगा, कभी हारा ही नहीं था ।
पर अगले पल ख़याल आता,
जो संताप इन दिनों में भोगा है, जो दुख मवाद की तरह अंदर रिसा है
उनमें इन स्मृतियों, अनुभवों, आघातों से ख़ुद को कैसे अलग कर पाऊँगा ?

कैसे इस ज़िंदगी के अलक्षित दिनों को गायब कर पाऊँगा ?
इनमें भटकने और आहिस्ते-आहिस्ते चलते हुए जो जीवन समझ आया,
उसे कैसे भूल पाऊँगा ?

यही सब सोच ठहर जाता हूँ ।

जो ऐसा कर पाते हैं,
वह बहुत अलग लोग होंगे । मुझमें यह साहस नहीं है ।

मुझे नहीं बदलना इतिहास । अतीत में पीछे लौटते हुए मुझे कुछ भी नहीं बदलना ।
**

5. धागे

गर्मी की दुपहरों में जब कभी
एक चींटा दूसरे चींटे को खींच कर ले जाते हुए दिखता है,
तब लगता है, उनमें बची रह गयी हैं कुछ नमी ।
कुछ स्मृतियाँ । कुछ स्वप्न ।

उनमें बची रह गयी हैं, एक साथ चलने
और उसमें खो जाने पर भी वापस लौट आने की संभावना ।

उनमें बचे रहते हैं धागे । कुछ कमजोर और कुछ मजबूत ।
वही रचते हैं, पीछे वापस लौटा ले जाने वाली लीक ।
सोचता हूँ,
मेरे पास भी बचे रहते कुछ ऐसे धागे, ऐसे रास्ते
जहाँ भीतर लौटते चींटे की तरह मैं भी लौट पता ।
**

6. अनुवादक

मैंने भी कुछ किताबों के अनुवाद किए,
जिन पर कहीं मेरा नाम नहीं हैं ।
हर बार उनसे मेहनताना लेने के बदले नाम छोड़ता गया ।

उस वक़्त उन रुपयों से बिन पैसे वाले दिन टालना
और अपना नाम छोड़ना, कुछ अजीब नहीं लगा ।

सोचा,
ठीक है । सब ऐसा करते होंगे ।

लेकिन अब, जबकि उन दिनों से बहुत दूर
यहाँ इस जगह बैठा हूँ, लगता है,
उन गलतियों को भी अनुवाद में जगह देते हुए मैंने कुछ ठीक नहीं किया ।

अब महसूस होता है,
नाम सिर्फ़ पहचान के लिए ज़रूरी नहीं है
वहाँ रही गयी कमियों, अस्पष्ट वाक्य संरचनाओं, गलत नुक्तों,
अशुद्ध कारक चिन्हों के लिए ज़िम्मेदार व्यक्ति का नाम होना ज़रूरी था ।

**

पृथ्वी की तमाम ऊर्जा अकेले कैसे चुरा सकता हूँ

अरुण शीतांश की कविताएँ

अरुण शीतांश जाने-पहचाने कवि हैं। उनके महत्वपूर्ण रचनात्मक और आलोचनात्मक हस्तक्षेप हिन्दी संसार में संवाद की शिनाख़्त की तरह देखे गए हैं। अनुनाद पर ये कविताएँ प्रस्तुत करते हुए कवि को शुभकामनाएँ और पाठकों से यह अनुरोध कि संवाद मुमकिन करते रहें। आपकी प्रतिक्रिया ही हमारी प्रेरणा है।

एक छोटे किसान का पहिरोपना

बारिश हो रही है
कोरोना काल में
और वैसा मौसम भी है

यह कविता बड़े खेतों के मालिक के लिए नहीं है
नहीं है होटलों में रहने वालों के लिए

एक किसान
किसान और मजदूर के बारे में सोचता है
बीज से निकलते अंकुर के बारे में बोलता है
खेत, बधार और बीज के बारे में सोचता है
बाल बच्चों और पत्नी के बारे में चिंतित रहता है

झुंड में गीत नहीं गाए जा रहें हैं
मोबाइल बज रहा है
फ़ूहड़ गीत के साथ
वहां पीपल का वृक्ष भी नहीं है
जहां नाश्ता ले जाता था
दस बजे
और कौए पीछा करते हुए
ठोकरें मारते थे
सर पर
शायद इसीलिए बाल भी झड़ गए

खेत बाल बनने जैसे हो जाते थे
केवाल, दोमट्ट, ललकी और बलूआही माटी से सने
हाथ पैर और कपड़े से सोंधी खुशबू आज भी है पास
बिल्कुल पास

अब भी जाता हूं खेत
लाठी लेकर नहीं
कोई हथियार के साथ

सांप, चूहे और काले कीड़े दिखाई नहीं देते
और देते भी हैं तो बहुत कम

बहुत कम दिखाई देते हैं
कुत्ते
गांव में कम हो गए हैं

और नहीं दिखाई देती है
किसी की डोली
या कोई कन्या
लाल - लाल साड़ी ब्लाउज पहने गिरती- भहराती आ रही नईहर
बड़े कगार पर पांव रखती
दूर से ही सुनाती थी पायल की आवाज़
और दिखाई देता था अलत्ता
और अंगुठे के पास एक बिंदु बड़ा - सा
अलत्ता लगे सांवले पांव कहां गए
कहां गई मेरे देश की बेटी
हो सकता है-
बाप को साइकिल से ला रही हो कहीं दूर से ढ़ोकर।
भारत भी कोरोना का घर हो गया है न बहन!
ओह,खेतों के पास पाम्ही वाले लड़के भी नहीं दिखाई दे रहें हैं

खेतों का पानी आरी (मेंड़) के पास जब आ जाता तो
लगता
धान भर गया कोठी में

बहुत जिरह करने के बाद
उस समय कोटा से किरासन मिलता था
किरासनवाला अपने को जिलाधिकारी समझता था
चश्मा लगाकर
रौब में बातें करता था
हम वहां दुबके हुए डर से जाते किरासन तेल लेने
बाबूजी हमीं को भेज देते थे वहां

बाबूजी चावल बेच मरकीन का कुरता खरीद लाते
परासी बाजार से

अब तीस - पैंतीस साल बाद
बिंदी तक नहीं आती
मां की
न नया लूगा

मेरी तबीयत अच्छी नहीं है
जैसे खेत की तबीयत
किसान और मजदूर की तबीयत बिगड़ रही है
तो देश की तबीयत कैसी होगी

हे राम ?.....
***

टप टप टप

बारिश हर नदी को
देखती है
सोखती नहीं
बारिश
मुझे अन्दर तक भींगो रही है
सख्त चेहरे को बारिश नहीं चाहती

ऐ देखो!
आम के पेड़ को तर कर रही है बारिश
किसी खराब कविता को धोती हुई

भला बारिश में कौन चुप रहना चाहेगा
मेरी कविता भी नहीं

पापियों!
तुम सब बारिश में रेगिस्तान पढ़ो

***

रोटी

हवा सब जगह बह रही है
यह बात वैज्ञानिक से पूछने की जरुरत नहीं है
जरुरत है कि
आज रोटी किसने नहीं खायी या बनाई

इतनी सारी पुस्तकें हैं दुनिया में
जिनमें विचारों के खजाने हैं
रोटी कैसे नही बन रही है घरों में
यह भी प्रश्न उन तक पहुँच रहा होगा

प्रिये! तुम रात को फूल तोड़कर मत दो
रोटी तोड़कर दो ताकि
दिल्ली दरबार में गरज कर या चाकू के बल पर
या तलवार की नोक पर टाँग दूँ तिरंगे की तरह

मुझे अपने तमाम बच्चों ओर सैनिकों के लिए चिन्ता
हो रही है
बजाय पुस्तक संग्रह देखने, बनवाने और दिखाने के
पुस्तकें दुनिया की ढेर में बड़े आराम से शामिल हो
जाएँगी
और नीम का पेड़ पास में कट रहा होगा।

मृतात्माओं से जाकर क्या कहूँगा कि छल हो रहा है
मनुष्य के सामने और सरकार के ठीक नाक के नीचे
इतनी ठंड और इतनी धूप के बीच
आसमान के नीले आँगन में एक खिड़की खुल जाती
हमारी तो क्या दिक्कत थी

पृथ्वी की तमाम ऊर्जा अकेले कैसे चुरा सकता हूँ
जब रोटी का स्वाद कंठ तक नहीं आ रहा
थूक कितनी बार घोटूँ
और सो जाऊँ

रात को खर्च नहीं करना चाहता
दिन तो रोटी की तलाश के लिए है
रोटी जो किसी मंत्री के तसले में बू मार रही है

मेरी रोटी घर में है
जिसे बाबा ने छोड़ रखा है कुछ कठ्ठे खेतों में

वहाँ आलू कबर रहा है
रोटी नहीं

अब पृथ्वी को रोटी बनानी पड़ेगी
और आकाश को पानी.....
***

साइकिल

घर में साइकिल है
पहले दुकानदार ने रखा था
आज मेरे पास है
पैसे वैसे की बात छोड दीजिए

साइकिल है मेरे पास
रोज़ साफ करता हूँ
उस पर हाथ बराबर रखता हूँ
सुबहोशाम निहारता हूँ

साइकिल को धोता हूँ
चलाता नहीं हूँ

रोज़ उस पर स्कूल-बैग टंगा रहता था

बाजार से लौटती थी बेटी
तो घर लौट आता था जैसे
अब नहीं जाती
एक सब्जी भी लाने

टिफ़िन के रस नहीं लगते चक्के में
वह चुपचाप खडी है

उसे गाँव नहीं जाना
हवा - सी चलती
और उडती साइकिल
हवा से ही बातें करती

साइकिल की पिछली सीट पर एक कागज की
खड़खड़ाहट सुनाई देती है
उसमें लिखा है- पापा !इस साइकिल को बचाकर
रखना
किसी को देना नहीं।

साइकिल को बारह बजे रात को भी देखता हूँ
कल डॅव सैम्पू से नहलाऊँगा
साइकिल कम बेटी ज्यादा याद आयेगी
देखकर आया हूँ- आपके पास से।

थोडी देर हो चुकी है
एक खिलौना को रखने में
वह खिलौना नही जीवन है
जीवन की साइकिल है ..1

भैया जी, यह देश बहुत बड़ा है

कमल जीत चौधरी

कमल जीत चौधरी चर्चित युवा कवि हैं। अनुनाद को दोबारा सक्रिय करते हुए मैंने उनसे हिन्दी कविता में इधर चल रही बहसों पर एक लेख माँगा था। सरकारी नौकरी की व्यस्तता और इधर खड़े हुए महामारी संकट के बीच हमारे इस युवा साथी ने यह तेजस्वी आलेख भेजा है। अननुाद कमल जीत चौधरी को इस आलेख के लिए शुक्रिया कहता है।

साहित्य में राजनीति पर चल रहे लाइव शो के बरअक्स इस युवा कवि का यह लेख पढ़ेंगे तो पाएँगे कि हिन्दी की ताक़त दरअसल कहीं और है - वह बड़े शहरों और बड़े लोगों की संगत में अपने सत्ताकेंद्र नहीं बना रही है, बल्कि अपने लोगों के घर रह रही है। वह सत्ता नहीं, जनता है। सोचिये कि देश में हिन्दी हर किसी की मातृभाषा ही नहीं है, वह किसी के पसीने का नमक भी है। याद दिलाऊँ कि कमल के कविता संग्रह का नाम ही **'हिन्दी का नमक'** है, जिसे अनुनाद सम्मान के अन्तर्गत प्रकाशित करना अनुनाद का गौरव रहा है।

इधर शिक्षण संस्थानों के हवा हवाई वेबिनारों की तर्ज़ पर ज़्यादातर हिन्दी कवियों ने फेसबुक लाइव को चुनकर अपने वर्गबोध को स्पष्ट कर दिया। एकाध साल बाद इसका मूल्यांकन ज़रूर होना चाहिए कि इन लाइव का लाभ किसे हुआ। इन्हीं लाइवस में से एक लाइव हिन्दी के वरिष्ठ कवि संजय चतुर्वेदी का भी था, जिनके लाइव के बाद फेसबुक पर एक तूफ़ान आ गया। उन्होंने बीते चार दशकों के हिन्दी कविता परिदृश्य पर बात करते हुए आठवें दशक के कवियों पर गम्भीर आरोप लगाए। समकालीन परिदृश्य को उन्होंने तीन सौ लोगों का गिरोह बताया। उन्होंने आठवें दशक के कुछ कवियों को छंद, भाषा और हिन्दू मनीषा (मैं इसे भारतीय मनीषा समझ रहा हूँ) और परम्पराओं के नुकसान का ज़िम्मेवार ठहराया। उन्होंने कहा कि इन कवियों ने एक निश्चित एजेंडे के तहत अनुवाद की भाषा में कविताएँ लिखीं। उसके बाद से भाषा व छंद को लेकर फेसबुक पर काफी कुछ कहा जा रहा है, जिसे पढ़कर हिन्दी के खूँटों को जाना जा सकता है। कविता पर विचार करते हुए भाव, कल्पना, भाषा, बिंब, प्रतीक, छंद, अलंकार, सौन्दर्य, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि पर दर्जनों आलेख लिखे गए हैं। इस पर कुछ मौलिक कहने लिखने के दावे से परे मैं सामान्य भाषा में भाषा और कविता से संबन्धित कुछ सवाल और बातें रख रहा हूँ।

1-कॉपी टू ऑल

प्रिय पाठको,
ऐसा नहीं है कि आप ही मेरे पाठक हैं, मैं भी आपका पाठक हूँ। मैं लगातार आपको पढ़ता हूँ। मैं आपको ठीक भी करता हूँ। आप मुझे दुरुस्त करना भूल गए हैं।

कविता की भाषा कैसी हो, इस सवाल का उत्तर इसमें निहित है कि मैं कविता क्यों या किसके लिए लिखता हूँ। आप मुझसे यह सवाल क्यों नहीं करते। मेरा लिखा जिस प्रकार की भाषा में आप तक पहुँचता है, वह भाषा आपकी आत्मा को छू पाती है? यह भी मालूम हो जाए कि आप कविता क्यों पढ़ते या सुनते हैं और आप किसकी कविता पढ़ते अथवा सुनते हैं, तो कविता की भाषा पर दो तरफा बात हो।

आपकी भाषा-बोलियों में सदियों का इतिहास, संस्कृतियाँ, मौखिक साहित्य है। आपके कंठ में पीड़ा के महाख्यान और मिट्टी के उत्सव हैं। परम्पराएँ, सामूहिक संघर्ष, त्याग, बलिदान और मानवता आपका अभिन्न हिस्सा हैं। पर देखना यह भी है कि पितृसत्ता, जातिवाद, सांप्रदायिकता, अंधविश्वास, सा

मंतवाद, भाषा-बोलीवाद, क्षेत्रवाद, रंग भेद किसकी रगों में दौड़ता है? इनसे किसे लाभ मिलता है।

आप श्रोता और दर्शक भी हैं। मान लें कि मैं हनी सिंह हूँ, अमिताभ बच्चन हूँ, टी. वी. पर डिबेट करता कोई धार्मिक गुरु अथवा पत्रकार हूँ, शिक्षक हूँ, प्रधानमंत्री हूँ। इन सभी रूपों में मेरी भाषा कौन सी है यह कम मायने रखता है पर मेरी भाषा कैसी है, यह बहुत कुछ निर्धारित करता है। क्या मेरे कवि रूप का कहन भी दूसरे रूपों जैसा ही है? आप मुझसे एक तरफा मोहब्बत कर रहे हैं या कि मैं भी अपना दिल हथेली पर लेकर आपके सामने खड़ा हूँ। या कि मेरा ही प्यार एक तरफा होता जा रहा है और आप किसी दूसरे के इश्क़ में कैद हो गए हैं?

हमारी शिक्षा व्यवस्था से लेकर रसोईघर तक में उत्तर से ही मूल्यांकन करने की वृत्ति पनप गई है। जबकि मूल्यांकन सवाल से भी होना चाहिए। आप सवाल करना क्यों भूल गए हैं। मेरी तरह आप भी एक प्रश्नपत्र बनाकर भेजें, और इसे कॉपी टू ऑल कर दें। देखें कि उत्तर कहाँ-कहाँ से और किस प्रकार के मिलते हैं।

2- शौक़-ए-दीदार है अगर तो...

कविता से लेकर नाटक, मदारी से लेकर सियासत, व्यापार से लेकर धर्म आदि क्षेत्रों में इस्तेमाल होने वाली भाषा पर हमारी ईमानदार नज़र रहनी चाहिए। इसके लिए हमें सब्जी स्वयं खरीदनी चाहिए, दूधवाले से बातें करनी चाहिए, खोमचे पर चाय पीनी चाहिए, बुजुर्गों के पास बैठना चाहिए, पुलियों, ढाबों व बस-ट्रक अड्डों पर ज़रूर रुकना चाहिए, पब्लिक ट्रांसपोर्ट व रेल के आम डिब्बों से यात्रा करनी चाहिए, झोपड़ पट्टियों में जाना चाहिए, गाड़ियों और दीवारों पर लिखे हुए को ध्यान से पढ़ना चाहिए, अपनी खेती न भी हो तो भी दराँती, हल, बैल, मेड़, बुआई, रोपाई आदि से रिश्ता रखना चाहिए, तसले, फावड़े और कुदाल को छूते रहना चाहिए, प्रकृति की गोद में खेलना चाहिए और सबसे बड़ी और अंतिम बात, स्त्रियों की और दूसरे धर्मों व जातियों की दुनिया के भीतर नियमित जाते रहना चाहिए। इन जगहों पर ही मुहावरे, लोकोक्तियाँ, लोकगीत की धुनें, पुरखों की गालियाँ, मिथक, किंवदंतियाँ और तद्भव का सौन्दर्य विद्यमान है। इन जगहों को छूए बिना कोई भी कवि एक अच्छी व प्रामाणिक भाषा अर्जित नहीं कर सकता है। जबकि हममें से ज़्यादातर कवि भीष्म साहनी कृत 'चीफ की दावत' के शामनाथ हुए जा रहे हैं। हम भूल रहे हैं कि माँ को छुपा कर आत्मा को भी तरक्की नहीं मिलेगी। साहब के लिए हमारी 'माँ' शर्म की बात नहीं है। वह तो हमारी माँ से मिलकर खुश होगा। उसे कमरे से बाहर आने देकर या उसके पास बैठकर ही हम असली भाषा तक पहुँच सकते हैं। कविता लिखने से पहले अनिवार्य रूप से माँ की बनाई फुलकारी या रोटी को याद कर लेना चाहिए।

हिन्दी या कोई अन्य भाषा बोलते हुए मज़दूर, किसान, सिपाही, स्त्री, दलित, अल्पसंख्यक, आदिवासी, थर्ड जेंडर, राजनीतिक कार्यकर्ता आदि के साथ-साथ चाइल्ड लेबर और स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालयों में पढ़ने वाली पीढ़ी की भाषा एक जैसी नहीं है। मैं सोचता हूँ कि यह किससे प्रभावित हैं, यह भी देखता हूँ कि इनसे कौन प्रभावित हो रहा है। इस पर एक सर्वे अथवा शोध किया जा सकता है कि अलग- अलग क्षेत्रों के लोगों के पास कितना बड़ा शब्दकोश है। आम आदमी के पास बोलने-बतियाने व रोटी कमाने के लिए कितने शब्द हैं। आम बोलचाल में सबका लहजा एक ही है? यह देखा जाना चाहिए कि भाषा सिर्फ शब्दों का अम्बार लगाने से समृद्ध होती है या कि उसे बरतने का सलीका उसे नया रूप देता है। मेरा निजी मत है कि भाषा को बरतने का सलीका एक आदमी को

दूसरे आदमी से अलग करता है। आग, पानी, चाकू, किताब, फूल आदि को इस्तेमाल करने का ढंग ही किसी कवि की काव्य पंक्ति को अलहदा, औसत अथवा निकृष्ट बना सकता है। यानी एक ही भाषा, लगभग एक ही शब्दावली, एक ही प्रदेश अथवा समान पृष्ठभूमि लिए हुए दो कवियों की भाषा भी अलग हो सकती है। क्यों? क्योंकि दोनों के सरोकार उनकी काव्य भाषा व कहन को प्रभावित करते हैं।

कवि को आम आदमी की दुनिया में हस्तक्षेप करने के सार्थक रास्ते तलाश करने होंगे, नई परम्पराएँ स्थापित करनी होंगी, अपनी परम्पराओं व उदात्त मूल्यों को भी आत्मसात करना होगा। और पाठकों को भी साथ जोड़ना होगा। इसके लिए अमीर खुसरो, विद्यापति, तुलसी, कबीर, सूर, जायसी, नानक देव, मीरा, रसखान, घनानन्द, बुल्ले शाह, बारिस शाह ग़ालिब, निराला, महादेवीवर्मा, त्रिलोचन,केदार नाथ अग्रवाल, नागार्जुन, फ़ैज़ अहमद, मुक्तिबोध, फिराक, नीरज, पाश, शिवकुमार बटालवी, वेणु गोपाल, रघुवीरसहाय, धूमिल, चंद्रकांत देवताले, राज कमल चौधरी, आलोकधन्वा, वीरेन डंगवाल, ओम प्रकाश वाल्मीकि, विद्यारत्न आसी जैसे हिन्दी, उर्दू और पंजाबी कवियों के साथ -साथ गुजराती मराठी, बंगाली, उड़िया, असमिया, मलया लम, कन्नड़ आदि भाषाओं के अलग-अलग विचारों के अच्छे कवियों को पढ़ना ज़रूरी है। इनकी काव्य भाषा से हम उदात्त व विविधता की ओर बढ़ेंगे।

3 - मुक्ति के रास्ते अकेले नहीं मिलते

लोगों का व्यवहार किसी भाषा को बचाता या ख़त्म करता है। साहित्य से जुड़कर कम मगर आजीविका से जुड़कर भाषाएँ अधिक प्रसारित होती हैं। कविता आग लगी हमारी दुनिया के बीच चिड़िया के चोंच का पानी है, जो कम है मगर चुप बैठे समुद्र की तरह निरर्थक नहीं है। पाठकों की संख्या घटने या बढ़ने से भाषा या काव्य शैलियाँ प्रभावित होती हैं। समय के साथ कविता की भाषा पीछे छूट जाती है, और कविता चिड़ियों के सामूहिक गान और उनकी चोंच से गिरते पानी की आत्मा में बची रहकर हमें जलने से बचाती रहती है।

दुनिया की महान कविता या कवि भी किसी भाषा को अकेले नहीं बचा सकते। संस्कृत, अवधी, ब्रज आदि भाषाएँ आज किस स्थिति में हैं, जबकि क्लासिक व लोक भाषाओं में लिखा गया साहित्य और इसके कवि अमर हैं। कालिदास, ग़ालिब, शेक्सपीयर, रबीन्द्र नाथ टैगोर आदि आदि मात्र सूचना या वस्तुनिष्ठ प्रश्न बनते जा रहे हैं। इनके नाम को लगभग सभी विद्यार्थी जानते हैं पर लगभग सभी को उनकी काव्यपंक्तियां याद नहीं हैं। फिलहाल उनकी कविता और काव्यभाषा आम मेहनतकश के जीवन में नगण्य भूमिका रखती है। साहित्य की जिस राजनीति और अन्य कारणों ने कविता को परफॉर्मेंस और कवि को परफॉर्मेर बना दिया, उसकी पड़ताल होनी चाहिए। अरुण कमल जी का मानना है कि कविता लिखने पढ़ने वालों की संख्या पहले भी कम थी अब भी कम है और भविष्य में भी कम होगी, परंतु इसे कोई खतरा नहीं है। वे इसे मचान कहते हैं, जहाँ से जीवन की लड़ाई जारी रखी जा सकती है। एकदम। दोस्तो, लेकिन सामूहिक सपनों की लड़ाई को परफॉर्मेंर के रूप में नहीं लड़ा जा सकता। कविता को हमने मंचान से मंच बना दिया है।

अपने भाव में कविता असीम है। इसे कोई कवि अपनी विशिष्ट कला, शैली या कहन से पूरा-पूरा अभिव्यक्त नहीं कर सकता। कवि, पाठक, श्रोता और दर्शक एक बड़ी दुनिया की संवेदना को एक भाषा में व्यंजित होते हुए देखते हैं। इस शैली में वे एक दूसरे से मिलते, बतियाते हैं। हँसते और रोते हैं। एक समय के बाद वे इस विश्रामघर से अपनी-अपनी दुनिया में वापस चले जाते हैं। भाषा को बनाने बिगाड़ने का श्रेय

और दोष सभी को है, और यह कागज़, मंच और प्रेक्षागृह के बाहर अधिक लिया और दिया जा सकता है।

कवियों को एक ऐसी भाषा अर्जित करनी चाहिए जिससे वे अपनी कविता के बाहर भी बौद्धिक चालाकियों, गिरोह, गुटबंधी या मठ अधीशों की शिनाख़्त कर और करवा सकें। गिरोह, पुरस्कार, निर्णायक समितियाँ, संपादक, प्रकाशक, अनुवाद की चमकती दुनिया की तुलना में सच्ची साहित्यिक दुनिया बहुत बहुत बड़ी है। इसका ध्यान रखते हुए हिन्दी कविता की बड़ी दुनिया को एकजुट करने का प्रयास होना चाहिए। समानांतर सिनेमा की भांति समानांतर साहित्य भी है, उस पर कभी बात नहीं होती। हाशियों पर लिखने, पढ़ने और बोलने वालों को यह ज़रूर सोचना होगा कि सुशांत सिंह राजपूत की आत्महत्या ने दर्शकों को क्यों हिला दिया, और कवि प्रकाश की आत्महत्या पर क्यों कोई बात नहीं हुई। दूधनाथ सिंह जी द्वारा प्रस्तुत 'एक अनाम कवि की कविताएँ' पढ़ते हुए कह रहा हूँ कि किसी दशक के मूल्यांकन से ज़्यादा ज़रूरी यह है कि हिन्दी में प्रतिभाओं के क़त्ल पर खुली बात हो। हिन्दी में आए दिन फेसबुक पर युवा कवियों की सूचियाँ बनती हैं। यह कभी भी पाँच दस नामों और तीन चार प्रदेशों से आगे नहीं बढ़ पातीं। क्या हिन्दी और उसकी भाषा का भविष्य इन्हीं सूचियों में है?

4 – संख्याबल

कवि साथियो, आप अपने विवेक और ईमानदारी पर भरोसा रखें। ऐसा न हो कि आप किसी का नेपकिन बन जाएँ। कवि को हमेशा समूह की आँख होना चाहिए। झुंड कभी भी लोकतान्त्रिक नहीं होते। आप चुपचाप अपने गाँव, कस्बे, शहर, महानगर को उसके अच्छे, बुरे भावों अनुसार लिखते रहें। कंटेन्ट अपनी भाषा शैली स्वयं चुन लेता है। पाठकों का संख्या बल देखकर किसी भाषा अथवा कविता भाषा की पैरवी नहीं की जानी चाहिए। पर यह ज़रूर देखा जाना चाहिए कि किसी कवि का पाठक कहाँ से आता है। कवि पाठक, शोधार्थी पाठक, मित्र पाठक, गुरूभाई पाठक, शिष्य पाठक, मठ-भाई पाठक, समीक्षक-आलोचक-पाठक और बधाई-पाठक के बाद बचा हुआ पाठक ज़्यादा प्रामाणिक पाठक होता है। सभी कवि आत्ममंथन अवश्य करें कि उनके पास अपने कितने और किस कोटि के पाठक हैं। और वे पाठक किस तरह की भाषा को अधिक पसन्द करते हैं, पाठकों के बीच से ही हमें उदात्त भाषा और उत्कृष्ट काव्य के प्रचार प्रसार की संभावनाएँ और अवसर तलाशने हैं। संख्याबल किसी चुनाव को भले प्रभावित करता रहे पर हमें पाठकों को नित नए पाठ देते रहना है। हमें त्वरित प्रतिक्रिया देने वाली भीड़ की भाषा को बदलने के लिए प्रयासरत रहना है। एक न एक दिन थोड़ा ही सही मगर संख्याबल ज़रूर बदलेगा।

5 - अनुवाद और कविता की भाषा

प्रचारित भले की जाए पर कोई भाषा ग्लोबल नहीं हो सकती। एक भाषा बोली से एक प्रदेश भी पूरी तरह अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। भले अनुवाद मूल के साथ पूरा न्याय न करता हो, पर यह छोटी भाषाओं के साहित्य को बचाने का बड़ा ज़रिया बन सकता है। अगर किसी छोटी भाषा में अच्छा लिखने वाला लेखक अनिवार्य रूप से बड़ी भाषाओं में अनूदित व सम्मानित हो, तो नई पीढ़ी अपनी मातृभाषा को लेखन और अन्य कलात्मक कार्यों के लिए चुनने की प्रेरणा पाएगी। अन्यथा सच्चाई यह है कि इस दौर में ज़्यादातर हिन्दी लेखकों के बच्चे भी लेखन और व्यवहार के लिए अंग्रेज़ी अपनाते हैं।

हिन्दी में आ रहे अनुवाद की स्थिति अच्छी नहीं है। बंगला, मराठी, गुजराती, मलयालम, उड़िया, अंग्रेज़ी आदि में किए जा रहे अनुवाद की स्थिति वहाँ के कवि

अनुवादक बता सकते हैं, मैं डोगरी से हिन्दी और हिन्दी से डोगरी में अनूदित अनुवाद का साक्षी हूँ। अपवाद को छोड़कर अधिकांश काम बहुत ख़राब है। संभवत: यही स्थिति अन्य भाषाओं की भी हो। ज़्यादातर हिंदीतर कवि अनुवादक हमारे चालाक (चालक) हिन्दी कवियों को महान समझ लेते हैं। यह अनुवादक हिन्दी की खराब कविताओं को अपनी भाषा में ले जाकर दोनों इलाकों के परिदृश्य को प्रभावित करते हैं। इससे यह वृत्ती पनपी है कि कवि मूल से अधिक अनूदित होकर छपना चाहता है। विदेशी भाषाओं में अनूदित हुए हमारे कवि अपने सीने पर हाथ रखकर सोचें कि क्या वे अकेले भारत का प्रतिनिधित्व करने की पात्रता रखते हैं। सामूहिक सपनों का नारा देने वाले बताएँ कि विदेश में जाने वाला यह अनूदित कार्य सामूहिक क्यों नहीं है? इसमें हर पीढ़ी और क्षेत्र को शामिल किए बिना इसे भारत या हिन्दी कविता का प्रतिनिधि बताना ग़ौर अनैतिक और फ़रेब है। यह ऐसे ही है जैसे अग्निशेखर, महाराज कृष्ण संतोषी, निदा नवाज़, योगिता यादव (या मैं) यह कहें कि हिन्दी लेखक के रूप में हम ही जम्मू-कश्मीर के प्रतिनिधि हैं। जबकि सच यह है कि यहाँ दर्जनभर अच्छे कवि अपने रास्ते पर ईमानदारी से चल रहे हैं। यही बात अन्य भाषा के कवियों पर भी लागू होती है। इसलिए यह आवश्यक है कि सभी भाषाओं में समय समय पर स्तरीय सामूहिक प्रयास होते रहने चाहिए। क्षेत्रीय भाषाओं से हिन्दी में होने वाले अनुवाद को बढ़ावा देने के साथ-साथ इसके स्तर की ओर भी विशेष ध्यान देना होगा। इन भाषाओं के अनुवाद से हिन्दी भाषा समृद्ध होगी, नई भाषा शैलियों का विकास भी होगा।

6 - सत्ता, जनता और कविता की भाषा

सत्ता की कोई एक भाषा नहीं होती। भाषा उसके लिए अभिव्यक्ति का साधन नहीं बल्कि एक हथियार है। कोई भी सत्ता जन भाषा को भी इस्तेमाल कर सकती है और किसी विदेशी भाषा को भी। कवि को सचेत होकर इसे रेखांकित करते रहना चाहिए। हिन्दी में भी ऐसी कविताओं का अलग से स्वागत करना चाहिए जो भाषाई हीन भावना या आभिजात मानसिकता को दर्शाती हैं। कविता लिखते हुए हमारी प्राथमिकता कोई भाषा न होकर भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त हो रही जन संवेदना, अधिकाधिक समता और मानव आत्मा हो। संकुचित अर्थों से ऊपर उठकर जो भी भाषा अथवा शैली मानव हित की बात करेगी, उसका स्वागत किया जाना चाहिए। हिन्दी या कोई भी भाषा अथवा उसका कहन बिलकुल निर्दोष नहीं हो सकता। जन भाषा में सरकारें बनती आईं हैं और जन भाषी भूख से मरते आए हैं। फिलहाल इस देश का सत्य यही है कि रोज़गार के प्रलोभनों के बीच अंग्रेज़ी का धंधा खूब फल-फूल रहा है, और बेरोज़गारी बढ़ती जा रही है। अंग्रेज़ी बोलने वाले को बुद्धिमान समझा जाता है। हिन्दी कवियों के पास ऐसी भाषा और कहन का होना अति आवश्यक है जो पाठक को इस मानसिकता से उभार सके।

दुनिया के बड़े शासक प्रेम, हिंसा और शांति को प्रभावित करते आए हैं। वे प्रेम को हिंसा, हिंसा को प्रेम और शांति को प्रेम का शत्रु और शत्रु को सज्जन प्रमाणित करते आए हैं। वे शांति के लिए युद्ध घोषित करते रहे हैं। इस बीच कविता की भूमिका क्या रही, क्या हो? उसकी भाषा कैसी हो? प्रेम, युद्ध और शांति को ठीक ठीक अभिव्यक्त करने के लिए कवि को सतत नई भाषा व कहन ढूँढ़ने होंगे। प्रेम में यह पीढ़ी 'हे मेरी तुम' से 'बाबू, शोना, बेबी' पर पहुँच चुकी है और विद्रोह, विरोध, प्रतिरोध, क्रांति और विमर्श में यह 'मी टू', 'सल्ट वॉक' आदि से भी आगे निकल गई है। जब विष्णु नागर जी लिखते हैं-' दो प्रेमी आमने सामने बैठे एक दूसरे की आँखों के बजाय अपने-अपने मोबाइल में डूबें होते हैं।' तो इसमें कविता की और भाषा की कोई भूमिका हो सकती है या नहीं। अगर हम इस पर बात करें तो यह छोटी बात नहीं होगी। इमोजी और कॉपी पेस्ट से आगे क्या

होगा? वीडियो- ऑडियो से आगे क्या होगा? वर्चुअल वर्ल्ड में काव्य भाषा और कविता का स्वरूप कितना बदलेगा, यह सब हमने सत्ता के हवाले कर दिया है। मुझे हैरानगी है कि कवि भी इस आपदा को अवसर में तब्दील करने में अभूतपूर्व योगदान दे रहे हैं। मैं इससे आक्रांत व त्रस्त हूँ। मेरा शरीर और दिमाग आलोकतांत्रिक टैग्स, इनबॉक्स और वाहट्सएप सूचनाओं के रूप में आ रही कविता को स्वीकार नहीं कर पा रहा। क्या इस सबको हमारी भाषा कोई चुनौती दे पाएगी? लेखक का काम लिखना होता है, वह भी एक वक्ता बनता जा रहा है। मेरी जानकारी में वक्ताओं ने दुनिया में कोई बहुत बड़ा योगदान न दिया है न दे सकते हैं।

7 - भैया जी, यह देश बहुत बड़ा है

विभिन्न कवियों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, परिवेश, मातृभाषा, विचारधारा, वर्ग, जाति, प्रांत, धर्म, पेशा, निजी पसन्द-नापसन्द, महत्त्व आकांक्षाएँ इन्हें एक दूसरे से अलगाती हैं। ऐसे अनेक कवियों को उनकी भाषा से पहचाना जा सकता है। और भाषा से उनके सरोकार पहचाने जा सकते हैं। ऐसे कवि हिन्दी भाषा की अच्छी बुरी विविधता और अनेकरूपता को बचाए हुए हैं। सिर्फ मंगलेश डबराल और संजय चतुर्वेदी हिन्दी कविता में भाषा के प्रतिनिधि नहीं हो सकते। जम्मू-कश्मीर, हिमाचल, पंजाब, गुजरात, कलकत्ता, झारखंड, छत्तीसगढ़, उड़ीसा, बंगाल, महाराष्ट्र आदि आदि प्रदेशों के कवियों ने भी हिन्दी कविता की भाषा और इन प्रदेशों के लोगों ने हिन्दी भाषा को समृद्ध किया है, नए मुहावरे गढ़े हैं। सिर्फ उत्तराखंड, उत्तरप्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश और राजस्थान ही हिन्दी के प्रतिनिधि नहीं हो सकते। मैं साहित्य में किसी आरक्षण का समर्थन नहीं करता, पर यह ज़रूर कहूँगा कि हिन्दी भाषियों की यह ज़िम्मेवारी बनती है कि वे हिंदीतर जगहों से आने वाले कवियों से संवाद स्थापित करें। इस क्रम में दक्षिण भारत के हिन्दी कवियों को अलग से रेखांकित किया जाना चाहिए। ऐसा क्यों है कि हमारे वरिष्ठ कवि हिंदीतर राज्यों के हिन्दी कवियों की अपेक्षा अनुवादकों से अधिक संवाद रखते हैं। दूसरा पक्ष देखें- सच यह है कि कुमार विश्वास लोगों को मुख्यधारा के कवियों से अधिक प्रभावित करते हैं। सुरेन्द्र शर्मा, सम्पत सरल आदि आदि भी इस देश की जनता द्वारा हिन्दी के कवि माने जाते हैं। हिन्दी के अच्छे समझे जाने वाले कवियों को भी लोग इन कवियों की अपेक्षा कम ही जानते हैं।इसलिए मंचीय कवियों की भाषा पर भी बात होनी चाहिए। वे भाषा को बनाने या बिगाड़ने के अधिक ज़िम्मेवार हैं। हिन्दी के शिक्षकों पर भी बात हो। यह देखा जाए कि हिन्दी कविता पढ़ाने वाले बाहर किस तरह की हिन्दी लिखते-बोलते और पढ़ते हैं। अख़बारों की भाषा और न्यूज़ चैनलों की रिपोर्टिंग ने भी हिन्दी कविता की भाषा को प्रभावित किया है। हमें मूल्यांकन करना होगा कि इनमें से कौन-कौन किसी निश्चित एजेंडे पर कार्य कर रहे हैं। शिक्षा को क्यों बेचा जा रहा है, वर्चुअल वर्ल्ड को कौन बढ़ावा दे रहा है। निजता कौन ख़त्म कर रहा है। उदात्त मूल्यों की परिभाषाएँ बदल देने की ताकत किसने हासिल कर ली है। शिक्षा हमें स्वार्थी क्यों बना रही है, सामूहिकता की जगह झुंड ने कैसे ले ली है। दुनिया में बढ़ती हिंसा, तनाव, सांप्रदायिकता, नस्लवाद, धार्मिक कट्टरता, जातिवाद, ताकत का वर्चस्व क्यों बढ़ता जा रहा है। हमारी 'भारतीयता', 'जातीयता', 'विश्वबंधुत्व' और 'वसुधैव कुटुम्बकम' के आदर्श को कौन नुकसान पहुँचा रहा है। भाषाएँ, नदियां, पहाड़, जंगल, जीव जंतुओं की प्रजातियाँ मर रही हैं, क्या इसके लिए सिर्फ तथाकथित मुख्य धारा के कवि, अनुवादक और अनुवाद की भाषा में साहित्य रचने वाले ही ज़िम्मेवार हैं। या कि भारतीय मनीषा व मूल्यों को उपभोगतावादियों ने चुपचाप दो

के साथ एक मुफ्त ले लेकर, और किसी ने भाषण दे देकर भी नुकसान पहुंचाया है?

यह देश बहुत बड़ा है। हमारे पास सैकड़ों बोलियाँ - भाषाएँ हैं, इस कारण हम कविता की कोई एक मानक भाषा अथवा शैली की वकालत नहीं कर सकते। परंतु यह भी सच है कि अपनी अपनी स्थानिकता, ढब और सांस्कृतिक विविधता बची रहे। हर कवि की काव्य भाषा में समान न्यूनतम मयार अपेक्षित होता है, होना ही चाहिए। अपने स्तर में एक कविता को कविता ही होना चाहिए। इस मेयार की वकालत की जानी चाहिए न कि किसी विशेष भाषा, कहन, परम्परा अथवा प्रकार की। इस मेयार को परिभाषित करके इसमें विश्व कविता को भी रखकर देखा सकता है।

***

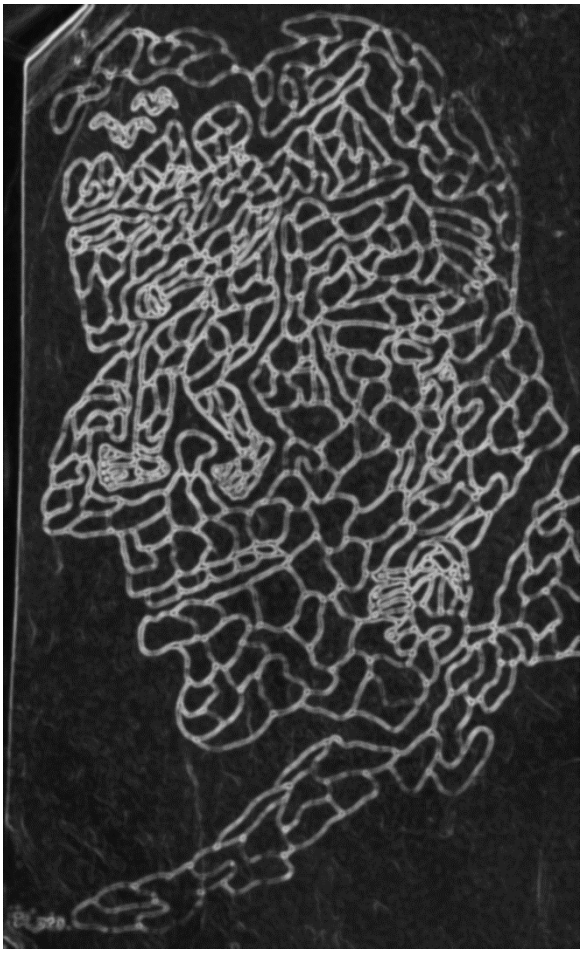

हम पानी में नहीं कर्ज में डूबे थे

रोहित ठाकुर की कविताएँ

कवि का कथन

मेरा मानना है कि साहित्य स्वयं का , अपने परिवेश के मूल्यांकन और पुनः मूल्यांकन का आधार देती है । घर से अत्यधिक आत्मीयता से जुड़ा हुआ हूँ, जीवन और उसके आस-पास की घटनाओं में मैंने रागात्मकता को ढूंढा जो कविता में स्वाभाविक रूप से आ गया । प्रारंभ से ही कविता के विषय के रूप में जीवन की साधारण घटनाओं ने आकर्षित किया । यह एक मायने में ज़रूरी भी है , यही साहित्यिक का या कविता का लोकपक्ष है ।

कविता को मैं घनीभूत पीड़ा को व्यक्त करने का माध्यम मानता हूँ । यह अपनी बात पाठकों से त्वरित कह सकती है । यह स्मृति भ्रंश का समय है । कविता अपनी तरल प्रकृति के कारण सहज रूप से ग्राह्य है। सम-सामयिक जीवन में हम में से अधिकांश लोग संतापों से, अभावों से, पीड़ा पराजय, निराशा, हताशाओं की स्थिति में जीवन पथ पर गतिशील हैं और अपनी सामर्थ्य से अपनी-अपनी लड़ाई लड़ रहे हैं। यह एक असमाप्त युद्ध है जो इस युग की वास्तविकता है ।

कोई भी कवि जो सजग है अपने परिवेश और आज की स्थितियों से प्रभावित होकर ही रहेगा और उसकी लेखनी ध्वनित करेगी समय विशेष की स्थिति , नैतिकता और संकटों को । मेरा मानना है कि तीव्र जीवन बोध कविता के लिए अनिवार्य है । कवि या रचनाकार का एक निजी स्पेस भी होता है । मैं मूल रूप से नौस्टेलजिक हूँ । मेरी कविताओं में यह जाहिर भी होता है ।

मैं स्वयं को खोए हुए चीजों का कवि मानता हूँ । जीवन में जो अभाव है वह मुझे कविता लिखने को प्रेरित करती है ।

मैं अपने मरने के सौंदर्य को चूक गया

एक औरत मुजफ्फरपुर जंक्शन के प्लेटफ़ार्म पर
मरी लेटी है
उसका बच्चा उसके पास खेल रहा है
बच्चे की उम्र महज़ एक साल है
एक औरत के गोद में बच्चा है
वह अपने मरे पति की तस्वीर
दिखा रही है किसी अखबार वाले को दिल्ली में
उस औरत की उम्र महज़ पंद्रह साल है
एक मजदूर लड़की अपने घर से कुछ दूर
सांस उखरने से मर गईं महाराष्ट्र में
कुछ बारह - तेरह साल की थी वह
एक रबड़ कारखाने में काम करने वाला मजदूर
बिहार आते समय ट्रक दुर्घटना में मर गया
एक युवा पीढ़ी का कामगार ही तो था वह
मैं उन में से किसी की भी जगह मर गया होता
और
उनमें से कोई एक भी जीवित होता
मेरे मरने का सौंदर्य देखने लायक होता |

पैर नहीं दिशाएँ थक कर बैठ गई है इस देश मे

दिशाएँ थक कर बैठ गई है
इस देश में
पैर नहीं
पूरब से पैदल घर आ रहे थे लोग
तेज़ रफ़्तार से आती किसी गाड़ी ने ठोकर मार दी
पश्चिम से कोई लड़का रेलवे स्टेशनों के नाम को याद करते हुए
साइकिल हाँकता हुआ पूरब पहुँचा

उसी दिशा से कोई गर्भवती औरत चलते हुए सड़क
पर जन्म देती है बच्चे को
और
चल देती है उत्तर दिशा में
उत्तर दिशा की ओर ध्यान से देखो
सभी दिशाओं से चले आ रहे हैं पैदल चलकर लोग
दक्षिण से कोई पश्चिम जा रहा है
भूख को भूल कर घर को याद करता है
एक परिवार अपने घर से महज कुछ दूरी पर दुर्घटना
में मारा गया
वे दक्षिण दिशा से आ रहे थे
एक थकी औरत अनवरत चल रही है
उसे भी उत्तर दिशा की ओर जाना है
उसके काँधे पर एक बच्चा बैठा है
नींद में बच्चे का सिर
सभी दिशाओं में डोल रहा है |

पृथ्वी को सबसे अधिक जानती है रेलगाड़ी

पृथ्वी की असीम पीड़ा में
पेड़ निरपेक्ष खड़े हैं
चिड़िया नहीं जानती है
मनुष्यों की भाषा में दुःख के गीत
पृथ्वी को सबसे अधिक जानती है रेलगाड़ी
रेलगाड़ी में बैठकर कोई दुःख से पार पाता है
कई पुलों से गुज़र कर सुख के छोर को छू कर
दुःस्वप्न की तरह
पृथ्वी की पीठ पर खड़ी है रेलगाड़ी
चलती-फिरती रेलगाड़ी के किस्से
जीवन का शुक्ल पक्ष है |

समय को कीड़ा लग गया है

समय को चाट रहा है कीड़ा
पैर को सड़क चाट रही है
शरीर को चाट रही है भूख
मनुष्य की आवाज़ को चाट रही है दीवार
दीवार को चाट रही है सीलन
आईना चाट रहा है चेहरे की दिव्यता
पिता की हताशा
चाट रही है बच्चों की चंचलता
चकित हूँ
दीमक किताब को नहीं
मनुष्यता को चाट गया है
माँ कहती है - समय को कीड़ा लग गया है |

उस आदमी के लिए जो सात दिनों में पैदल चलकर दिल्ली से दरभंगा पहुँचता है

बेटी ने कहा स्कूल बंद है
मैंने धीमी आवाज़ में कहा काम बंद है
कहा नहीं जाता पर -
कह गया यह शहर छोड़ कर जाना है
बेटी से पूछता हूँ -
दिल्ली से दरभंगा पैदल चलकर जाना है
तुम चल सकोगी
बेटी कहती है खिलखिला कर -
मेरी उँगलियों को पकड़ कर वह जा सकती है दूर
बहुत दूर
हम लोग पैदल चल रहे हैं |

गतिहीन दुनिया में गतिशील है एक साइकिल सवार

एक गतिहीन दुनिया में
गतिशील हैं बच्चे
एक छोटा सा लड़का
अपने आँगन में निरंतर चला रहा है साइकिल
उसके चेहरे पर जो मुस्कराहट है
उसे मैं अपने जीवन की कार्यसूची में शामिल कर रहा
हूँ
कविता में नहीं

आपके कानों में यही कहना चाहता हूँ
साइकिल सवार हाँकता रहे अपनी साइकिल
गोल - गोल
पृथ्वी की परिधि से बाहर भी सुनाई दे उसकी हँसी |

मेरी जेब खाली थी शेष नहीं था कुछ कहना

मेरे पास कुछ नहीं था
एक गुलमोहर का पेड़ था सरकारी जमीन पर
पास की पटरी से गुजरती हुई ट्रेन की आवाज थी
रिक्शा वालों की बढ़ती भीड़ थी
चिड़ियाँ नहीं थी उनकी परछाईयाँ दिखती थी
गिटार बजाता एक लड़का था जो खाँसता बहुत था
हम पानी में नहीं कर्ज में डूबे थे
हम कविताएँ नहीं गाली बकते थे
हमें याद है हमारे कपड़े में कुल मिलाकर पांच जेबें थीं
एक में कमरे की चाभी
दूसरे में घर की चिट्ठी
तीसरी - चौथी और पाँचवीं खाली |

लालटेन

क्या आया मन में की रख आया
एक लालटेन देहरी पर
कोई लौटेगा दूर देश से कुशलतापूर्वक

आज खाते समय कौर उठा नहीं हाथ से
पानी की ओर देखते हुए

कई सूखते गलों का ध्यान आया |

घर स्थिर है जंग लगी साइकिल की तरह

कोई था जो अब नहीं रहा
कोई है जो अपनी दिव्यता का शिकार हुआ
मारा गया कोई अपनी चुप्पी में
कोई अतीत की चिड़ियों के पीछे भागा
एक घर है जो रहा स्थिर
जंग लगी साइकिल की तरह |

घर

घर लौटना हो नहीं सका
किसके स्वप्न में नहीं आता घर
कौन घर नहीं लौटता
कितना अच्छा था हमारा घर
पर हम लौट नहीं सके
चलते हुए ठेस किसे नहीं लगती
पर हम तो मर गए |

मिलना

उसके शरीर में
ख़ून की जगह आँसू थे
उससे जब भी मिला
महसूस किया
आषाढ़ के मौसम की नमीं
अपने आस-पास |

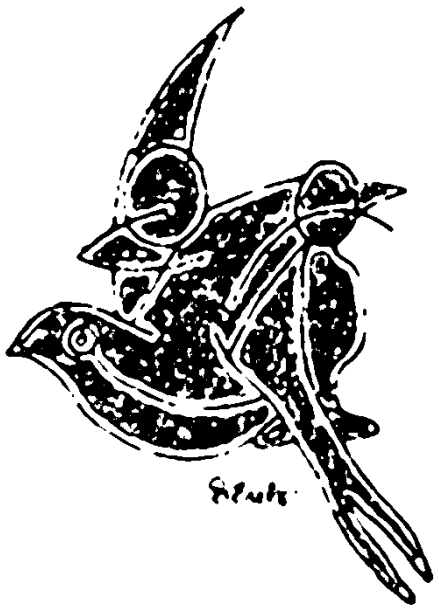

कठिन काल में प्रेम के दस्तावेज

देवेश पथ सारिया की कविताएँ

कवि का कथन

कविता मेरे लिए अपने भीतर के उस बच्चे को स्वर देने का प्लेटफार्म है, जिसने एक अलग- थलग, दार्शनिक-सा बचपन जिया। समय के साथ मेरी कविता की यात्रा में कुछ अजनबी गलियों में भटकना भी शामिल हुआ है। मेरी कविता में इस भटकने का प्रभाव साहित्य के अध्ययन से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।कुछ ऐसी जगह जहाँ मेरी उपस्थिति कोई हस्तक्षेप ना करती हो। वहाँ से हम अंजुरी भर द्रव्य लेकर आएं और कविता के निर्माण में वह काम आए। चित्रकारी जैसी कला जहां मैं मात्र दर्शक बने रहकर संतुष्ट हूँ, वहाँ मात्र दर्शक बने रहना भी मेरी कविता को पुष्ट करता है। यात्राएं मुझे हर बार एक नयी ज़मीन देती हैं। कविता लिखने के मेरे कुछ पसंदीदा विषय हैं, पर इन दिनों मैं अपने कम्फर्ट ज़ोन से बाहर की कविता लिखने को प्रयासरत हूँ। प्रयोग करते रहना ज़रूरी है। वे कितने सार्थक होते हैं, यह मेरी चिंता नहीं है।

महामृत्यु में अनुनाद

महामारी के दौरान भी हो रहे होंगे निषेचन
बच्चे जो सामान्य परिस्थितियों में गर्भ में ना आते
आयेंगे इस दुनिया में
कठिन काल में प्रेम के दस्तावेज बनकर

बड़े होने पर वही बच्चे
किवदंती की तरह सुनेंगे
इस महामारी के बारे में
और विश्वास नहीं करेंगे इस पर
आज की काली सच्चाई का किवदंती हो जाना
गहराता जाएगा आने वाली पीढ़ियों के साथ
जैसे हममें से बहुत
मिथक समझते थे प्लेग की महामारी को
जो लौटती रही अलग-अलग सदियों में, अलग-अलग देशों में
उजाड़ती रही सभ्यताओं के अंश
पौराणिक गल्प सा मानते थे हम
अकाल में भुखमरी से मरे लोगों को
येलो फीवर या ब्लैक डेथ को
(मानव महामृत्यु में भी रंग देखता है
यह कलात्मकता है या रंगभेद?)

महामारी के दौरान मरे लोग
सिर्फ एक संख्या होते हैं
जैसे होते हैं, युद्ध में मरे लोग
और हमेशा कम होता है आधिकारिक आंकड़ा
कोई नहीं याद रखता
कि उनमें से कितने कलाकार थे, कितने चित्रकार, कि तने कवि
कौन सी अगली कविता लिखना या अगला चित्र बना ना चाहते थे वे
व्यापारी कितना और कमाना चाहते थे
कितने जहाज़ी अभी घर नहीं लौटे थे
कौन-
कौन समुद्र में किसी अज्ञात निर्देशांक पर मारा गया
कितने बुज़ुर्ग अभी जीने की ज़िद नहीं छोड़ना चाहते थे
कितने शादीशुदा जोड़ों की सेज पर
अभी आकाश से टपक रहा था शहद
कितने नवजात बच्चों ने अभी नहीं चखा था
मां के दूध के अलावा कुछ और
इनमें से कितने गिने भी नहीं गये आधिकारिक आंकड़ों में
सरकारों-

हुक़्मरानों के मुताबिक़ सदियों बाद भी ज़िंदा होना चा
हिए उन्हें

महामारी से, या महामारी के कुछ दशक बाद मरकर
हममें से प्रत्येक, संख्या में एक का ही इजाफा करेगा
भीड़ का हिस्सा या भीड़ से अलग ख़ुद को मानते रह
ने वाले हम
गिनती में सिर्फ़ एक मनुष्य होते हैं

हममें से अधिकांश कवि गुमनाम मरेंगे
और यदि जी पाई हमारी कोई कविता, कोई पंक्ति
भविष्य में उसे उद्धृत करते हुए कोई इतना भर कहेगा
"किसी कवि ने कहा था"
कहीं ना कहीं
इस समय लिखी जा रही सभी रचनाओं में निहित है-
विषाणु, पलायन, अवसाद, एकात्मकता

अंधकार की सभी कविताएं
जो फिलवक़्त बड़ी आसानी से समझ आ जाती हैं
अपने बिंबों की विस्तृत परिभाषाएं मांगेंगी भविष्य में
किवदंती का पुष्ट-अपुष्ट आधार बनेंगी

'किसी कवि' में समाहित सभी कवियों
आओ, खड़े होते हैं
महामारी से बचने को अतिरिक्त सावधानी बरतते हुए
एक नहीं, तीन-तीन मीटर दूर घेरों में
या मान लेते हैं
एक आभासी दुनिया में ठहरे हुए काल्पनिक घेरे
और बारी-बारी गाते हैं
प्लेग और अकाल आदि में मर गए
पुरखों के स्मृति गीत
सुनाते हैं अपनी कविताएं

उसके बाद
उम्मीद भरी समवेत हंसी हंसते हैं
ठहाकों का अनुनाद
एक कालजयी कविता है

बाइपोलर प्रेम

क़िस्से की शुरुआत में तुमने सोचा था-
'उस तरफ एक भावनाशून्य इंसान रहता है
जो ज़ेब में हाथ डाले, बेतकल्लुफ़, ठहरा-सा है'
इसलिए तुमने ठानी ज़िद पहेली को सुलझाने की

मुझे लगा था
कि उस तरफ रहती है एक लड़की
जिसके आकाश में सिर्फ़ मैं ही मैं हूं
पता नहीं क्यों हूं, पर हूं

अपनी निष्ठुरता के दिनों में
मैंने पूछा था एक बार तुमसे
कि क्या तुम बाइपोलर हो
जैसा कि तुमने अपने बारे में लिखा है
और तुमने कहा था कि जान जाऊंगा मैं

जब मैं उदासीनता के धरातल पर था
तुम प्रेम के ध्रुव पर खड़ी मुझे पुकारती रहीं

कहां मालूम था तुम्हें
कि बेतकल्लुफ़ परतों के अंदर बसता है एक कोमल-
कवि
एक दिन मैंने शुरू कर ही दी तुम तक की यात्रा
चलते रहना प्रेम के घाट तक
सोचकर कि इस बार प्रेम होगा सुलभ
'जिगर' साहब की वाणी होगी झूठी-
ना 'आग का दरिया' होगा, ना 'डूब के जाना'

तुम्हें अपने ही ध्रुव पर खड़े रहना था
वही केंद्र बिंदु था मेरे लिए सृष्टि का
पर तुम चलने लगीं प्रेम के विपरीत दिशा में
जो हमारा बीच में थोड़ी देर का मिलना था

आमने-सामने से गुज़र जाना भर था
मानो किसी शरणार्थी कैंप में हुल्लड़ से पहले का मि
लना

तुम भावनाओं से बहुत दूर
धुंधलाते, मिटते गए चित्रों की दिशा में विलीन होती
गईं
मेरे उदासीनता के धरातल को भी पार कर
एक कंटीले धरातल पर चल पड़ीं
जिससे लहूलुहान होते रहे मेरे पैर

क्योंकि अब मैं प्रेम में था
मैं कूद पड़ा घाट से
आग, कांटों और अनिश्चय का सामना कर
तुम्हें वापस ले आने
यही होती है नियति हर बार प्रेम की
जिससे बचने को मैं पहेली बना खड़ा था

मेरी परिणिति में तुम्हें मिल गया
तुम्हारी आरंभिक पहेली का जवाब
मुझ पर हुआ ज़ाहिर कि तुम हो बाइपोलर

इस बीच तुम कितनी बार बदलती रहीं अपनी मनः
स्थिति
तय करती रहीं मेरा डूबना या तैरते रहना
बस प्रेम के ध्रुव पर लौटने का साहस ना कर पाईं

तुम बदलोगी अपना ध्रुव फिर किसी दिन
मुझसे फिर से होगा प्रेम तुम्हें
मेरे एक और गूढ़ पहेली बन
खो जाने के बाद

तारबंदी

जालियों के छेद
इतने बड़े तो हों ही
कि एक ओर की ज़मीन में उगी
घास का दूसरा सिरा
छेद से पार होकर
सांस ले सके
दूजी हवा में
तारों की
इतनी भर रखना ऊंचाई
कि हिबिस्कुस के फूल गिराते रहें
परागकण, दोनों की ज़मीन पर

ठीक है,
तुम अलग हो
पर ख़ून बहाने के बारे में सोचना भी मत
बल्कि अगर चोटिल दिखे कोई
उस ओर भी
तो देर न करना
रूई का बण्डल और मरहम
उसकी तरफ फेंकने में

बहुत कसकर मत बांधना तारों को
यदि खोलना पड़े उन्हें कभी
तो किसी के चोट न लगे
गांठों की जकड़न सुलझाते हुए

दोनों सरहदों के बीच
'नो मेन्स लैंड' की बनिस्पत
बनाना 'एवेरीवंस लैंड'
और बढ़ाते जाना उसका दायरा

धर्म में मत बांधना ईश्वर को
नेकनीयत को मान लेना रब
भेजना सकारात्मक तरंगों के तोहफे

बाज़वक़्त
तारबंदी के आरपार
आवाजाही करती रहने पाएं
सबसे नर्म दुआएं

अरूणाचल के पानी में डूब रहा है केरल

अनामिका अनु की कविताएँ

कितनी अलग-अलग आवाज़ें इस बीच हिन्दी कविता को मिली हैं, यह देखना सुखद है। अहिन्दी प्रदेशों में हिन्दी की कविता के रचे हुए नए-नए-से ये दृश्य आश्वस्त करते हैं। इन दृश्यों में लम्बी यात्राएँ हैं, सुदूर फैले संवेदन हैं। ऐसे ही एक दृश्य, यात्रा और संवेदन के साक्ष्यरूप में केरल से अनामिका अनु की कविता हमें मिली हैं। कवि का अनुनाद पर स्वागत है।

कवि का कथन

पुरानी ऋणगंध से निवृत्ति हेतु लिखी गयी ये मन और माटी की कविताएँ हैं। भावनाओं और घटनाओं का समुच्चय मेरे जीवन का अंकगणित गढ़ता आया है। अब जरूरी है कि मैं उसके कुछ प्रश्न सुलझाऊँ, कुछ प्रमेय सिद्ध करूँ और रहे गये जीवन बीजगणित के कुछ अज्ञात अक्षरों का विन्यास कम और सरल शब्दों में आप तक लेकर आऊँ। जो शब्द मिले हैं उनसे अपने भाव, ज्ञान, दृष्टि और जीवन समझ को कह कर,स्व और पर के साथ घटित सुंदर, असुंदर पलों के स्मृति ऋण से निवृत्त हो जाऊँ। कहना मन पर लदे समान को उतारना भर है, कहना जरूरी है बस इसलिए कह रही हूँ। पुरानी स्मृतियों की गंध बेचैन करती है, शब्दों में बाँध अब मैं उन्हें उड़ा देना चाहती हूँ खुले आकाश में। हाँ मैं लिखती हूँ क्योंकि लिखना चाहती हूँ...

टिकुला

एक जोड़े में दो टिकुला,
झरोखे के पास ,पेड़ से लटका।
मंजर,मिठास, भँवरे मिले,फल लगा ,टिकुला हरा।
मन में खिजां रस,
नज़र बचाकर झुरमुट बीच बढ़ा ,
अप्रैल की आँधी झुरमुट को सरका गयी,
जोड़ा दिखने लगा सभी को।

लोगों के आँखों को हरा लगा,
मारा झुटका गिरा दिया,
टहनी से बूँद-बूँद दूध टपक रहा,
पत्थर से फोड़ा,चाटा- चटकारा,
आवाज़ दे किसी ने फटकारा ,
सरपट भागे लोगों का चप्पल वहीं पड़ा है।
क्षत-विक्षत मरा, टिकुला हरा है।

पकने से पहले टपक चुका,
समाज की लपलपाती जीभ,चटोर मुख और स्वाद की खातिर खप्प चुका ,
ज़ख्मी बीज, माटी में गड़ा पड़ा,
एक जोड़े में दो टिकुला मरा है।
अखबार टीवी देख रहे लोगों से नन्ही बेटी पूछ रही-
टिकुला किसने तोड़ा,कहाँ गया टिकुला हरा?

*टिकुला- टिकोरा ,कैरी,आम का कच्चा छोटा फल

मोनपा

वह मोनपा लड़की जो जानती है
मैं वह देख रहा हूँ
अरूणाचल के पानी में डूब रहा है केरल

थांगका पेंटिंग बनाती उस फूले आँखों वाली लड़की
ने एक दिन बस यूँ ही खिलाया था
थूपका नूडल
और मन उन्हीं नूडलों
में आज तक फँसा रहा

पहक चटनी सी तीखी बातें करती वह लड़की
अंदर से सोयाबीन बड़ी थी
जरा सी नरम बात नहीं उड़ेली
कलेजा मोम बना लेती थी

एक याक,तीन सूअर
और दो भेड़ तब ताक रहे थे मुझको
उसकी माँ अनभिज्ञ बनने का
अभिनय करती रही
और बिनती रही कालीन
मानो प्रेम में कर रही हो मध्यस्थता
झूठ कहते है सब लोग
मोनपा व्यापार में करते हैं मध्यस्थता
प्रेम में करते हैं
मैं जान गया था उस दिन

बाँस की चूड़ियों से सजे हाथ ने एक चटक लाल
एंडी* थमायी थी
बारिश भी हुई
बुखार भी आया था
बाँस का झुमका मेरे पास
उसकी निशानी है
जो मेरी लिखी किताबों के बीच पुरस्कार सा पड़ा है

फरवरी का तीसरा हफ्ता था
लोसार था उस दिन
लोसार यानी कि नव वर्ष,नव हर्ष
रस भरी लड़कियाँ पानी भरने गयी थी
सजधज कर
आठ शुभ चिन्हों से सजी दीवारें बोल रही थी
गरम छांग, जौ के सत्तू से महक रहा था घर-आँगन
कुँए, पोखर पर जल रहे थे धूप-दीप
बर्तनों के मुँह पर सूत बँधी थी
सब गये थे तवांग मठ
उसके लौटने से पहले
मैं समेट चुका था खुद को

केरल में मंजारी के बीज
से सड़क पटा था
सुर्ख लाल बीजों पर दिल बना था
छह महीने बाद इड्डुक्कि
डूब गया
उस मोनपा लड़की का नेह सच्चा था
और उसके आँसू अंतहीन...

*पुरुषों का एक वस्त्र

गीतगंधा

(तीन बिन्दियाँ (ठुमरी) कहानी पर लिखी गयी कविता)

मन की दीवार पर एक कील ठोक कर रखी है
प्रिय तुम्हारा तैलचित्र टंगा है उससे
उम्र और सुर में बँधा जीवन
तुम मुख को खोले सुन रहे हो
कब से मुझको बेजान माइक सा!

मैं नाद अकेली साँझ तले
स्मृतियों के चूर्ण विचूर्ण क्षणों
से जोड़ रही टूटी अपनी तानपूरा
सूखी सख्त जमीन पर छींट रही मैं सुर कणिका
नाद और सहनादों की फसल उगेगी
जो गाना उससे रह गया नया
वह गीत समय अब गाएगा

मन सरसों की पोटली
दिमाग मछलियों का अंडा है
आधी कथा से आधे सिर में दर्द है रहता
अधूरे प्रेम से जीवन भर...

कभी चाँदनी नहीं टंगी
शाल वृक्षों की बाल फुनगियों पर
यह रही बिछती श्यामल-मसृण युवा घास पर
परित्यक्त रागिनी का ठौर बनाते
एक दिन बन गयी स्वंय यंत्र मैं
जिसे बजा जाती हैं
अनचीन्ही उँगलियाँ

प्रथम प्रेम पत्र में स्वर था
हर पंक्ति तब झनक रही थी
द्वितीय प्रेमपत्र बस बोलती चिट्ठी
तीसरा प्रेमपत्र गूँगा था।

प्रेम के धूप की गंध करती रही बेचैन
सहनाद को नौगुन ऊँचाई पर पहुँचाते
कट गयी एक उम्र सुरमयी
तन मन धन तीनों बिंदियों को चिपका दिया
गीत, स्वर और सहनाद के सिर पर
बन गयी मैं गीतगंधा

उत्पलावनता

मेरे रिक्त का आयतन बहुत बड़ा है
गुब्बारे में गुबार भरा है
करता रहा विस्थापित मैं मर्यादाओं
को अपने आयतन से कहीं अधिक
रहा तैरता ऊपर-ऊपर
विज्ञान इसे उत्पलावनता कहती है
मैं इसको मेरा हल्कापन।

सपने उन्हें देखते हैं

वे बच्चे जो पेंसिल छिलते रहते हैं
डस्टबिन के पास
जो कक्षा में होकर भी अलग-सी दुनिया
में होते हैं
ख़ुद से बातें करते
दूसरी दुनिया के चक्कर काटते ये बच्चे
अनछुए रह जाते हैं उस ज्ञान से
जिसे हम हर रोज परोसते हैं।

प्रश्न की दीवारों को ताकते ये बच्चे
कहाँ पार कर पाते हैं परीक्षा की परिधि
केन्द्र से अछूते,
आत्ममुग्ध इन बच्चों के आँखों में क्या होता है?
चौकोर भोर जिसकी चारों भुजा एक सी
सब उसे वर्ग कहते हैं
ये दृष्टि

इनके पेट में एक उबाल होता है
आँखों में बेचैनी
पानी की बड़ी बड़ी घूँट पीते
उल्टे डी,बी, उ, अ लिखते
"हर गोल" से भागते ये बच्चे
परिधिहीन दुनिया की सैर पर होते हैं

आसमान सबका होता है
ये सच भी है और
तय भी
ये बच्चे अपना आसमान स्वंय गढ़ते हैं
फिर उस पर हीरों-सा चमक उठते हैं
इनके आसमान में न चांद होता है ,न बादल।

छूटते टूटते सपनों के ये बाज़ीगर
खरीद लाते हैं कबाड़ी के मोल में हीरा
और फिर लिखी कही जाती हैं
उन पर अनगिनत कहानियां

ये जो धूप का टुकड़ा लाते हैं
वह भी उजाले का हिस्सा है

इनकी रिक्त कापियां दस्तक है
हमारे ज्ञान कोष पर

बड़ी बड़ी आँखों वाला एबिन
झूठ नहीं कहता
वह सपने नहीं देखता
सपने उसे देखते हैं

निर्वासित कवि

गाँव के पोखर के पास
खेत की दोमट मिट्टी पर दोपहर में सरसों
आज भी ठहाके लगाती होगी न?
सूरज अपने देह की पीली माटी
से रंग देता होगा
देह धरा का
तब जाकर सरसों खिलती होगी
आज भी जनवरी पीली खेत से मिलती होगी।

बाँस के हरे पत्ते
और सरसों की हरी पत्तियाँ जुड़वा भाई-बहन हैं
दोनों के रंग इसलिए एक से हरे हैं
 कहता था कहलू पहलवान

चन्देश्वर कितना छोटा दिखता था
पर बातें बड़ी-बड़ी करता था
उसकी बातों के पोखर में
मैं डूबता और उभरता रहता था

उम्र तेरह थी ,
गाय चराने जाता रहता था
बाबा की चुनौटी से निकाल खायी थी खैनी
बँसबिट्टी में साँय- साँय एक हवा चली थी
डर खूब लगा था
तन पीला, पेंट गीला और थूक दिया था खैनी
मुँह छीली रही थी पाँच दिनों तक
आत्मग्लानि लंबी चली थी
चूने को बाँस के गिरे भूरे पत्तों से पोंछ
खैनी को उगल खायी थी एक कसम
फिर कभी नहीं छुऐंगे
किसी कसैली और नशीली चीज को

माँ के पास नहीं थी
एक भी साड़ी गुलाबी
वह कभी नहीं गयी बाजार
बाबूजी ही लाते रहे साड़ी दुकान से
जो हमेशा हल्के रंगों की होती थी
कभी सफेद,फूल के छींटों वाली
कभी आसमानी या पीला...
पर माँ को शायद बहुत पसंद था रंग गुलाबी
बाबू की धोती, पाग और बकरी के मेमनों
को रंगती रही गुलाबी

उसी माँ के आँगन में लकड़ी की ओखली
में मैं छिपा कर रखता था
पके बेर,जामुन और फालसे
का गुच्छा
कभी -कभी किसुनभोग आम भी
वही कनेर पेड़ के पास गाड़ दिया था
टूटे फाउंटेन पेन को
 कि कभी तो कलम का पेड़ उगेगा

मखाने के पोखर के पास
एक काँटा चुभा था पैर में
और एक फूल सी लड़की
पर पहली बार
नजर वहीं ठहरी थी

लिखता पढ़ता
लड़ता उलझता
समझता बूझता आज

आ गया हूँ कितनी दूर

घहराती घूमती लयबद्ध
घर्र-घर्र करती जाँता
ये जाँता नहीं
मेरे माँ का दो टूक कलेजा है
कितनी स्मृतियाँ रख दी पीस कर
सूई सी घुमती यह जाँता
बीस बरस से बना विदेशिया !
कब लौटेगा बेटा?

माँ ठंड में प्रतीक्षा की घुनी जलाती होगी
कितने सालों से नहीं मिला मैं!
तीन सौ पैंसठ दिन का एक बरस था
पर हर दिन में आठ पहर था
कितने पहरों का इंतजार था माँ का...

मैं निर्वासित कवि हूँ
एक सुंदर देश का
कल मुझ से मिलने मेरे अतीत का सहचर आया था
वह केतली सा भरा था गर्म स्मृतियों से
खौलती स्मृतियों को वह मेरे भीतर उड़ेल रहा था
मैं कमजोर प्लास्टिक की कप सा पिघल कर विकृत हो गया
स्मृतियाँ फैल गयी थी इधर-उधर
मैंने एक ताप और उदास भाँप
बहुत भीतर ,बहुत दिनों
बाद महसूस की।

बाहर बर्फबारी हो रही है
शीशे को पोंछती प्रेमिका कह रही है।
मेरे मुँह से भाप निकल रही है
इंजन रुक गयी है
छुक-छुक बंद है
पटरी गाँव से होकर गुजरती है
मगर भाप वाले इंजन नहीं चलते अब वहाँ

मेरे मन के कुछ महीन मुलायम धागे
आज भी बँधे मिलेंगे
बगान के सबसे बड़े आम पेड़ की सबसे झुकी टहनी पर
और मैं मिलूँगा माँ के साथ बैठकर जाँते में स्मृतियाँ पीसता
जँतसार से गूँज उठेंगी चहुँ दिशाएँ
बोल कुछ ऐसे होंगे-
बीसो बरिसवा पर लौटे न मोरा बेटवा हो...

साहित्य ज़माने भर से किया जानेवाला इश्क़ है

कुमार अम्बुज

साहित्य में संगठनों की प्रासंगिकता पर बहस लगातार बढ़ी है। वैचारिक प्रतिरोध और विमर्श के लिए व्यक्तिकेंद्रित गैरवैचारिक समूहों के बरअक्स संगठनों की भूमिका को अब समाप्त मान लेने के उदाहरण हमारे सामने हैं। संगठनों ने भी अवश्य ही कुछ चूकें की हैं। सोशल मीडिया के हाइपररियल दौर में चूकने के ये प्रसंग भी साहित्य के पाठकों के सामने अब मौजूद रहते हैं।

इस पूरी उथलपुथल में अपेक्षाकृत स्थिर और साफ़ दृश्य की तरह कुमार अम्बुज का यह लेख अनुनाद को मिला है। कुमार अम्बुज उन कवियों में हैं, जिन्होंने केवल कविता तक अपने को सीमित नहीं रखा। वे अकसर ही वैचारिक हस्तक्षेप के लिए, संवाद के लिए और रचनात्मक बहसों के लिए गद्य के कुछ शिल्प सिरजते रहे हैं। हमारा मानना है कि उनका यह लेख एक स्वस्थ बहस के सिलसिले की शुरूआत हो सकता है। अनुनाद इसके लिए कवि का आभारी है।

साहित्य अंतर्गत वैचारिक संगठन और गैर-वैचारिक समूहों में अंतर होता है।

यह ज़मीन आसमान का अंतर होता है।

वैचारिक संगठनों का अपना एक सुस्पष्ट घोषित दर्शन, दर्शनाधारित विचार, विचाराधारित उद्देश्य और उद्देश्याधारित समझ होती है। इन्हीं शामिल बिंदुओं को लक्ष्य करके उनका अपना एक घोषणा पत्र, संविधान, नियमावली आदि सार्वजनिक होती है। वह समझ कितनी प्राप्य होती है या यूटोपिया ही बनी रहती है, इसके बावजूद वह होती है।

पहले वर्ग में, किसी विचारधारा विशेष, जैसे वामोन्मुखी या दक्षिणाभिमुख विचार अंतर्गत कुछ अभीष्ट या उद्देश्य रहते हैं। उनके इरादे, घोषणाएँ, प्रवृत्ति और पक्षधरता को पहचाना जा सकता है। वहाँ साहित्य संबंधी एक दृष्टि, विचार-सरणी और कुछ साहित्यिक मापदण्ड, समझ के औजार भी दृष्टि और सरणी से निसृत होकर सामने रहते हैं। तत्संबंधी नयी चुनौतियाँ भी। विचारधाराओं से प्रेरित तमाम लेखक संगठन इसी वर्ग में आते हैं। इनका अजैण्डा असंदिग्ध रूप से जाहिर होता है। सार्वजनिक। उनके उद्देश्य स्पष्ट होते हैं। प्रगतिशील लेखक संघ, जनवादी लेखक संघ, जन संस्कृति मंच, पूर्व में 'परिमल' और इधर अस्तित्व में आईं अनेक सांस्कृतिक दक्षिणपंथी संस्थाएँ, जिनकी अपनी नीति स्पष्ट है, इस तरह के संगठनों के उदाहरण हैं। प्रायः इस तरह की संस्थाओं में औपचारिक/अनौपचारिक सदस्यता होती है और वे अपनी प्रतिबद्धताओं के लिए जवाबदेह होते हैं, माने जाते हैं।

दूसरे वर्ग में मुख्यतः निजी महत्वाकांक्षाओं, व्यक्तिगत यशकामना और/या व्यावसायिक समझ के साथ बनाए जानेवाले समूह आते हैं। या इनसे चालित होनेवाले मित्रमंडल। जाहिर है, ये किसी सामूहिक जनचेतना, व्यापक विचार या विचारधारा से प्रेरित नहीं होते। इसलिए कभी-कभार उनमें विभिन्न विचारों के लेखक भी, निजी कारणों से, एक साथ सक्रिय दिख सकते हैं। इनकी एक, दो, या दस घोषणाओं या सोशल मीडिया पर लिखित पोस्ट को विश्लेषित कर लें तब भी कुछ हाथ नहीं आएगा। सिवाय इसके कि ये व्यक्तिगत स्वीकृति, एक सीमित क्षेत्र में वर्चस्व या परस्परता की स्थानीय कामना, प्रकाशकीय लोभ-लाभ, पत्रिका की लांचिंग या प्रचार अथवा निजी धाक जमाने हेतु, पब्लिक रिलेशनशिप के लिए सक्रिय बने रहते हैं।

जब तक उनकी यह यशलिप्सा, निजता से लथपथ

आकांक्षा सिर उठाये रहती है या कोई उठंगकामनाचालित व्यक्ति इसके पीछे काम करता रहता है, ये दृश्यमान रहते हैं और अचानक सिरे से गायब हो जाते हैं। फिर उनकी उतनी गूँज भी बाकी नहीं रहती जितनी एक उथले, अंधे कुएँ में आवाज लगाने से होती है। उनका ऐतिहासिक महत्व तो दूर, उसकी किंचित उपलब्धि भी अल्प समय के बाद ही, कोई नहीं बता सकता। संक्षेप में कहें तो इनकी नियति एक 'स्थानीय क्लब' में बदल जाती है जहाँ साहित्य, रचनाधर्मिता के संदर्भ में कोई ऐसी बात संभव नहीं जिसे गहन सर्जनात्मकता एवं बड़े विमर्श तक ले जाया जा सके। उसे विचार की किसी परंपरा से जोड़ा जा सके। किसी आंदोलन के हिस्से की तरह उसे देखा जा सके या उस संदर्भ में नयी पीढ़ी को उत्सुक अथवा उत्प्रेरित किया जा सके।

ऐसे लोग और समूह, एक तरह के अवकाश को भरने या उम्र विशेष में बोरियत दूर करने, साथ मिलजुलकर बैठने की इच्छा या समकालीनता में किसी तरह अपना नाम शामिल करने-कराने की सतही सहज-सरल आकांक्षा, ध्यानाकर्षण की योजना से प्रेरित होते हैं और कई बार इस प्रतिवाद से भी कि उन्हें अपेक्षित स्वीकार नहीं मिला है। या उन्हें कमतर समझा गया है। या यह कि उन्हें और, और, और, और, और जगह चाहिए। अपनी तमाम अपर्याप्त रचनाशीलता अथवा अयोग्यता के बावजूद। यह रचनाशीलता के माध्यम से नहीं, किसी अन्य माध्यम से लड़कर अपने लिए कोई जगह चाहते हैं। दूसरे की प्रसिद्ध रचनाओं को कमतर अथवा किसी स्वीकृत लेखक को संदिग्ध बना देने का अजीबो-गरीब उपक्रम भी इसमें विन्यस्त रहता है। मानो ये अपनी किताबें नहीं लिखना चाहते, दूसरों की लायब्रेरी में आग लगा देना चाहते हैं।

एक बात यहाँ सबसे महत्वपूर्ण होती हैः इनका कोई घोषित सामूहिक, वैचारिक अजैण्डा नहीं होता। न कोई कार्यसूची होती है। जो उनकी बाकी हरकतें हैं उनसे साहित्य या जीवन के प्रति उनके किसी भी विचारधारात्मक नजरिये, लेखक की रचनाधर्मिताजन्य बेचैनी या दृष्किोण से कोई संबंध नहीं बैठाया जा सकता। उनकी सामूहिक या सामाजिक चेतना को लक्ष्य नहीं किया जा सकता। पिछले एक दशक से ये समूह सोशल मीडिया की पोस्टों में अधिक सक्रिय रहते हैं। मोहल्लों-कस्बों-शहरों में ये किसी मिलन समारोह, मनोरंजन, पर्यटन, सामूहिक दस्तरखान के सुख, आनंददायी तस्वीरों और अन्य मधुर स्मृतियों में न्यून हो जाते हैं। इन्हें 'साहित्यिक किटी पार्टियों' की तरह भी देखा जा सकता है। ये विचार स्खलित समूह हैं।

अधिक साधन-संपन्न लोग इनका संस्थानीकरण भी करते हैं। हर तरफ, हर जगह इन्हें देखा जा सकता है। वहाँ कोई भा आ-जा सकता है उसमें भागीदारी से किसी को कोई उज्र या ऐतराज नहीं, जब तक कुछ विचारधारात्मक सवालों से मुठभेड़ न हो। फिर से याद कर लें कि इनके पास साहित्य को लेकर कोई विशिष्ट औचित्य या दृष्टि नहीं होती, सिवाय इस महान वाक्य के कि 'वे साहित्य की सेवा कर रहे हैं और उनका जन्म बस यही करने के लिए हुआ है। रसधार बहती रहे, इतनी ही इच्छा है प्रभु।' उनके अफसोस-ग़ज़ल का मतला यह कि वे कितना अच्छा लिख रहे हैं मगर कोई ध्यान नहीं दे रहा है। मक़ता यह कि अब हम इकट्ठे हो गए हैं।

बहरहाल। यदि पहले वर्ग के संगठनों में कोई शामिल होता है तो वह खास तरह के वैचारिक अजैण्डा की जानकारी के साथ, उसके प्रति सहमति, प्रतिबद्धता या उत्सुकता से शरीक होगा। और दूसरे तरह के समूहों में वह मूलतः अपनी स्वीकृति, मौज मस्ती, मेल-मिलाप, निजी मान्यता, अपेक्षित सम्मान और संबंधवाद के लिए।

लेकिन हर उस संगठन या समूह को दिलचस्पी से देखा

जाना चाहिए जिसका सार्वजनिक वैचारिक धरातल और उद्देश्य स्पष्ट होकर घोषित हो। भले ही, उनका प्रयास या संगठन का काम व्यावहारिक रूप से असफल सिद्ध हो जाये। तत्संबंधी उद्देश्यों और आकांक्षाओं को पहले समझना जरूरी है। यानी वही अमर सवालः 'पार्टनर, तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है?'

बाकी के समूह निजी पुकार का पर्यायवाची हैं। यह उनका अधिकार है लेकिन उसका सार्वजनिक महत्व नहीं। वे पवित्रता और नैतिकता से आकुल हो सकते हैं लेकिन उनका शून्यवाद स्पष्ट है। उन्हें प्रणाम किया जा सकता है।

ध्यातव्य है कि पिछले कुछ वर्षों से विचारधारा संपन्न संगठन अपने पराभव काल में हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि उनका विचार असफल है या उनकी आवश्यकता नहीं रह गई है। व्यावहारिक सफलता या विफलता आती-जाती रहती है। वह कई अन्य कारकों पर भी निर्भर करती है। यह याद कर लेना यहाँ अप्रासंगिक न होगा कि दीर्घकालीन दृष्टि और किसी प्रतिबद्धात्मक अजैण्डे के साथ काम करने से ही संगठन और संस्थाएँ बनती हैं।
विमर्श आग्रगामी होता है।

अन्यथा समूह या गुट बनते हैं। भावुक, आभारी बनानेवाली, सी-सा, अहो-अहो मित्रताएँ बनती हैं। इन्हीं सबके बीच आत्मतोषी रचनापाठ और रिवर्स रचनापाठ, कुछ आत्मीय विवाद, गैरवैचारिक-उत्तेजनाविहीन कलह, ठिठोली विमर्श और आमोद-प्रमोद होता है। फिर अनाम लोगों को संबोधित याचना पत्र और क्रोधित प्रतिवेदन पेश किए जाते रहते हैं। लेकिन कोई भी समझ सकता है कि यह साहित्य का उद्देश्य नहीं हो सकता। उनका आयुष्य औसतन तीन महीनों से लेकर इकाई में गणनीय वर्षों तक हो सकता है। वैचारिक संगठनों का आयुष्य एक लंबे कालखंड में फैलता है। उसका ग्राफ ईसीजी जैसा हो सकता है क्योंकि वह एक जीवंत और सामाजिक धड़कन है। वह किसी एक व्यक्ति के जीवन या मृत्यु, उसकी कामयाबी अथवा नाकामी के साथ समाप्त नहीं होता। धीमा हो सकता है। लेकिन फिर गति पाता है। क्योंकि वह कोई पारिवारिक न्यास या परिजन की स्मृति में बनाया गया उपक्रम नहीं है।

बाकी कुछ लेखक हर काल में अपनी तरह से अकेले रहकर, अपना काम करते ही आए हैं। बिना किसी दूसरे पर लांछन लगाए। अच्छी कविता, कहानी या रचना के लिए हमेशा जगह है, हर कोई उसे स्वीकृति देने के लिए सहज रूप से तैयार रहता है। पर कृपाकांक्षी हुए बगैर लिखो तो सही। यदि कोई मान्यता नहीं दे रहा है तो फिर लिखो। दूसरों पर संदेह करने से पहले खुद की कमियों पर ध्यान दो। लेखन एक लंबा आत्मसंघर्ष भी है। एक गीत की पंक्ति है: इश्क में जल्दी, बड़ा जुर्माना। साहित्य जमाने भर से किया जानेवाला इश्क है।

बाकी जो आप अपने लिए समझ लें। लेकिन खुद के लिए मातम मत मनाइए। महज किसी की मान्यता के लिए लिख रहे हो तो मत लिखिए। तब एक और मशहूर पंक्ति को याद कर लें:
और भी ग़म है, ज़माने में मोहब्बत के सिवा।
***

यह कविता किसी दिशा में नहीं जाती इस पर चढ़ने वाले लोग अपने उतरने की व्यवस्था स्वयं कर लें

अमित श्रीवास्तव

इधर दुनिया भर में मची गड़बड़ और ख़राबे के बीच भी भाषा और कविता में साहित्य की राजनीति के पुराने पत्ते फेंटने का हुनर रखने वाले सभी मशहूर, अपूर्व, अद्भुत इत्यादि बताए जा रहे वरिष्ठ और कनिष्ठ खिलाड़ी चाहें तो इस कविता का डिस्क्लेमर पढ़ कर वापस लौट जाएँ। निश्चित रूप से यह भी एक दृश्य है, जिसमें कथित मशहूर-अपूर्व-अद्भुत-वरिष्ठ-कनिष्ठ कवियों-आलोचकों के बनाए कुहासे से बाहर जो कविता तड़पती है, उसे संभव करने वाले युवा कवि भी हमें दिखाई दे जाते हैं। अमित ऐसा ही कवि है। ये दोनों कविताएँ पहले भी अनुनाद पर छपी हैं, पर समकालीन इस दृश्य में इन्हें बार-बार छापे जाने की जो ज़रूरत बची है, उसका क्या कीजे.....

डिस्क्लेमर

(यह कविता किसी दिशा में नहीं जाती इसपर चढ़ने वाले लोग अपने उतरने की व्यवस्था स्वयं कर लें)

ये अलहदा काम नहीं पर करें कैसे
हम आजाद हैं
चुनने को कि मरें तो ससुरा मरें कैसे

दो टांगो के बीच घुसाकर
नाक झुकाकर कान उठाकर
सर लगाकर पीछे को
गहरी सांस छोड़ दें
गुत्थम-गुत्था दोनों टाँगे
दोनों बाजू गोड़ दें

अकाल मृत्यु आसन करने से पहले भक्तगण
जीने की सभी आशाएं छोड़ दें

कृपया पहली ताक़ीद पर ध्यान दें बार-बार-बार
बताया गया कि इस कविता में कोई ऑफर नहीं चल रहा, कहा न, कोई नहीं, इतना भर भी नहीं जितना कि जीने के लिए जीवन

शाम मरियल सी धुवें में
पिटी-पिटाई, टेढ़ी-मेढ़ी
एक लकीर सी
उठती गिरती उजबक चलती
शोर-शोर में प्राइम टाइम के
धड़ाम से गिरती

सुबह निकलती डूब डूब के
झाड़ू उछाल देती
हर दूजे रविवार की चमच्च
बिस्किट निकाल लेती
टूटी-डूबी चाय में
चल बे चल उठ चल बे
कसी जीन है गाय में
पिलेट में धर दो हुंवा हमरी राय में

जी नहीं, फाइव टू फाइव टू फाइव हमारा टोल फ्री नहीं है, किसी का नहीं है, दिमाग़ न खाएं, अपना सर बचाएं

तू इसक करता है तो कर मियाँ
पर हिंया नईं
चल फूट रस्ता नाप
मेरे बाप
इधर गोली-शोली आग-वाग
पत्थर बाजी है भरपूर
अम्न का रस्ता इतिहास में घुसता
लंबा चलता

चलता जाता
कहीं नहीं आता कभी नहीं आता

तुझे पेड़ पे चढ़ना आया कि नईं
पानी में सांस लेना
आँख खोल कर सोना
एक क्लिक पर हंसना
एक इशारे पर रोना धोना
तुझे कबर गढ़ना आया कि नईं
अपने मरने की दावत खाना

जी हाँ लॉजिंग कॉम्प्लीमेंटरी बस अपनी आई डी ले आओ, फूड बिल तो देना ही पड़ेगा जी

रोटी खायेगा मर साले
सर उठाएगा मर साले
रोली, चन्दन, टीका बस
फ़तवा सोंटा लोटा बस
अब इत्ता तो कर साले
जीना चाहता है तो मर साले

कविता को आख़िरी हिचकी आई है दोस्तों संभाल लेना
चाहो तो अपना अक्स निकाल लेना
थूक लगाकर ज़रा सुखाकर
अपने पिंजरे के बाहर टटका देना
तुम बाशिंदे गुफाओं के
बिल में रहना
पर बाहर नेमप्लेट भी लटका देना

हमारे कस्टमर केयर रिप्रेज़ेन्टेटिव से बात करने के लिए डायल करें नौ या दस या चौवालिस या टू ज़ीरो वन सिक्स या फाइव फोर थ्री या टू फोर फाइव, फर्क नहीं पड़ता, लाइन बिज़ी है तो सुनें ये सिम्फनी

नाला झरना एक समान
उगना सड़ना एक समान
हंसना डरना एक समान
गण्डा चिमटा एक समान
जीना-मरना एक शब्द है
सीधा-उल्टा एक समान

लाल लंगोटा
गटई घोंटा
बोल मेरे केंचुए कित्ती मिट्टी
इत्ती मिट्टी

कविता को चुल्लू भर मिट्टी नसीब हुई|

गूँगी नहीं हो जाती है आत्मा

प्रदीप सैनी की कविताएँ

समकालीन हिन्दी कविता की अन्तर्धारा में प्रदीप सैनी सदा ही धैर्य और संयम के साथ रचनारत दिखायी दिए हैं। अनुनाद को उनकी ये अप्रकाशित कविताएँ मिली हैं। **प्रेम** को अवश्य ही कविता में अनगिन बार कहा गया है और अनगिन बार कहा जाएगा, किन्तु पाठकों को यहाँ **आत्मा के मुँह में घुलती गुड़ की डली के स्वाद** जैसी इसकी मौलिकता कुछ अलग अनुभव सरीखी लगेगी।

कवि का कथन

मेरे लिए कविता अपने भीतर की बेचैनियों, चिंताओं और झटपटाहटों को पकड़ने की यात्रा है। वे क्या हैं और क्यों हैं ? मेरे लिए इसका जवाब खोजना दरअसल अपनी खोज के साथ-साथ उस सत्ता, संस्कृति और समाज की भी जांच पड़ताल हैं जिससे रोज़ मेरा पाला पड़ता है। इस यात्रा में सच्चाई और अपने प्रति निर्मम ईमानदारी ही मेरी लालटेन रही है।

जीवन में जिया हुआ तमाम झूठ, फ़रेब, कायरताएँ और सुविधाजनक समझौतों की स्वीकारोक्ति के लिए मैंने कविता को एक कॉन्फेशन बॉक्स की तरह भी बरता होगा, इससे इंकार नहीं कर सकता। लेकिन मेरे लिए कविता सिर्फ़ इतनी ही नहीं है। उसमें मुझसे बाहर की एक दुनिया भी है। मेरी समाज, देश और दुनिया को लेकर चिंताएं भी उनमे शामिल हैं। लेकिन किसी एजेंडे के तहत या उसके दबाव में मैंने कविताएं कभी नहीं लिखीं और न ही पॉलिटिकली करेक्ट होने को किसी अनिवार्य शर्त की तरह देखा।अपनी बात को कहने के लिए मेरे पास कविता से बेहतर कुछ भी नहीं। यहाँ भी अपने वक्तव्य को अपनी दस साल पहले लिखी एक अप्रकाशित कविता से विराम देता हूँ।

बाबा, ये मैं कैसा कवि हूँ ?

[कवि नागार्जुन को याद करते हुए]

यूँ तो जब भी लिखता हूँ कविता की पंक्ति कोई
दाएँ हाशिए को वह छूती नहीं कभी
पर बाँई तरफ़ करता हूँ कहाँ से शुरू लिखना
यह भी तो तय नहीं

न फक्कड़ हूँ न घुम्मकड़
एक जगह जमकर फैला रहा हूँ जड़ें गहरी
दूर दूर तक बना रहा हूँ पहुँच
सोख लेना चाहता हूँ
अपने हिस्से से ज्यादा खनिज और पानी

बाबा
साफ़ साफ़ सुनता हूँ तुम्हारी आवाज़
कभी हकलाते नहीं हो तुम
तुम्हारी आवाज़ में शामिल जो हैं
बहुत सी आवाज़ें गुमनाम
खुद वक़्त की खोई हुई आवाज़ भी
पाती है शरण उसमें

मेरी आवाज़ में तो बाबा बस मेरा अपना ही शोर है

जिस प्रेम को कच्चे माल की तरह इस्तेमाल कर
कविता में बदल देता हूँ
उसे सब से छुपाकर एक गुनाह की तरह जीता हूँ
कठिन समय में करता हूँ प्रेम
कमाल यह है कि कविताएँ लिखने के लिए
बचा रहता हूँ

सौ झूठ जीता हूँ
शुक्र है इतना कि कविता में सिर्फ सच लिखता हूँ

धूल भरे मौसमों में
मैली हुई आत्मा को धोने

कविता में लौटता हूँ बार-बार
हर बार गंदला करता हूँ उसका जल

बाबा, ये मैं कैसा कवि हूँ ?

इतना पवित्र था कि प्रेम ही हो सकता था

1.

यह पिछली सदी के
उम्मीद भरे आख़िरी दिनों की बात है
सदी बदलने से तो यूँ बदलने वाला कुछ नहीं था
पर तुम अचानक मिली जब मुझे
यक़ीन हो चला था
आने वाले समय में बेहतर होगी दुनिया
विलुप्त हुई नदियाँ
दन्तकथाओं से निकल धरती पर बहेंगी
बारूद सिर्फ़ दियासिलाई बनाने के काम आएगा
और ऐसे ही न जाने कितने सपनों ने
आँखों में घोंसला बना लिया था
मैं साफ़-साफ़ नहीं देख पाता था वक़्त।

2.

तुम किसी आदिम प्यास के स्वप्न में
मेरे भीतर की बावड़ी तक
अनजाने ही आ गईं थीं
वहां इतना निथरा था जल
यक़ीनन उसमें तुम
रूप अपना ही देख मुग्ध हुईं
वरना पास तुम्हारे वहां आने और बैठ जाने की
वाजिब कोई वजह मौजूद नहीं थी

तुम्हारा आना इतना अप्रत्याशित था
मैं नहीं जानता था
किस नाम से पुकारूँ तुम्हें
तुम्हारी गंध को पहले-पहल मैंने
खुशनुमा जंगल की देन समझा
हड़बड़ाहट में मेरे बहुत ज्यादा बोलने के बाद भी
तुम कुछ भी सुन नहीं पाईं
जानता ही कहाँ था मैं तब स्पर्श की भाषा।

3.

अपने लिए हल्की तरफ़दारी के साथ ही सही
आज भी याद है मुझे सब
और इस बीच दस बरस बीत गए हैं
और प्रेम किसी वायरस की तरह चिन्हित किया जा
चुका है
बचाव के लिए हम सभी
खुद को स्मृतिहीन बना रहे हैं
कि कहीं दर्ज़ न हो पाएं
एक काँपते हुई पल के थमे हुए रंग
कोई ऐसी ध्वनि जो गूँजती रहे ताउम्र
और काया से परे का कोई स्पर्श
बाक़ी सब भी मिटाए जाने की सहूलियत के साथ
कुछ गीगाबाइट मेमोरी के हवाले रहे

सभी बदल रहे हैं लगातार
प्रेम नहीं
वह आज भी आपको नष्ट करने की क्षमता रखता है
बावजूद इसके कि हम सभी
अपनी प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाने में लगे हैं।

4.

इन दस बरसों में
सभी दस अंकों की एक संख्या में तब्दील हो गए हैं
लगातार चल रहा है
असंख्य संख्याओं के बीच
जमा-घटाव-गुणा-भाग
एक संख्या दूसरी से इतना बतियाती है
जैसे अभी-अभी ईजाद हुई हो भाषा
ख़ुदा का शुक्र था
जब हम मिले संवाद कम चुप्पियाँ ज़्यादा बोलती थीं।

5.

उस वक़्त मेरे भीतर
सिर्फ़ कविताएँ थीं
रगों में खून नहीं स्याही दौड़ती थी
और कविताएँ धीरे-धीरे ही सही
हमारे बीच पुल बन गईं थीं
उनसे होकर हम आ-जा सकते थे
एक दूसरे के भीतर

कविताएँ तुम भी लिखती थीं
अब नहीं लिखती होगीं
सफ़ेद पड़ चुके हल्के गुलाबी रंग वाली स्मृतियों के साथ
उन्हें भी छोड़ दिया होगा तुमने
जैसे दुर्गम पहाड़ पर चढ़ने से पहले
पर्वतारोही आधार शिविर में छोड़ देता है
अगले सफ़र के लिए गैर-जरूरी हो गया
बहुत-सा सामान ।

6.

मुझसे बरस दो बरस उम्र में
छोटा होने के बावजूद
कितना समझदार थी तुम
जान लिया था कि नहीं जिया जा सकता उसके साथ
जो हमारे बीच
इतना पवित्र था कि प्रेम ही हो सकता था।

7.

तुम्हारा जाना मेरे लिए
गहरी नींद से जगकर आँखें मलने जैसा था
मैंने दुनिया को नई नज़र से देखा

इन दस बरसों में
कठिन अभ्यास से अर्जित की है मैंने
सामने घटित होते हुए को न देख पाने की दृष्टि
सिर्फ़ उन आवाज़ों को पहचानने का हुनर
जो मेरे पक्ष में हैं
या जिन्हें मेरे पक्ष में किया जा सकता है
और भाषा का वह तिलिस्म
जिससे अपनी आत्मा के सिवा
सभी को छला जा सकता है

हो सकता है किसी रोज
तुम मेरे सामने से गुजरो
और मैं तुम्हें देखूं एक अपरिचित मुस्कान के साथ।

पार करना

तुम मेरे जीवन में नदी की तरह आईं
मुझे तुम में डूब जाना था

अभागा हूँ मैं
आगे की यात्रा के लिए प्रार्थनाएं बुदबुदाते हुए
मैंने तुम्हें एक पुल से पार किया।

एहतियात

ताज़ा ताज़ा प्रेम अभी गीला है
रच जाने दो इसे दिल की दीवार पर

छुओ मत
दूर रखो तन

वरना इस पर पड़ेंगे धब्बे
और तुम दाग लेकर जाओगे।

गलत नम्बर का चश्मा

याद में उस हकीम की

पढ़ता हूँ कविता को दवा के पुर्ज़े की तरह
नब्ज़ देखे बिना ही जो दवा की पुड़िया बाँध देता था

कसैले वक़्त में बढ़ाता हूँ हाथ
शहद की जगह हाथ में सल्फास आ जाता है

कुछ का कुछ दिखता है अब मुझे
जानता हूँ उसकी याद गलत नम्बर का चश्मा है।

गुड़ की डली

गूँगी नहीं हो जाती है आत्मा
न ही होश खोती है

सही गलत दिखता है उसे सब
बस वह बोल नहीं पाती है

प्रेम आत्मा के मुँह में घुलती गुड़ की डली है।

आसान विकल्प

कविता एक आसान विकल्प है

अंट जाओगी तुम भी
कविता में धीरे-धीरे
ज़िन्दगी में नहीं
कविता में हमेशा होती है गुंजाइश।

अन्न-जल

तुम्हारे पास आकर मैंने
अपनी भूख को जाना
तुमसे दूर रहकर अपनी प्यास को
तुम्हारे पास ही तो मेरा अन्न-जल है।
***

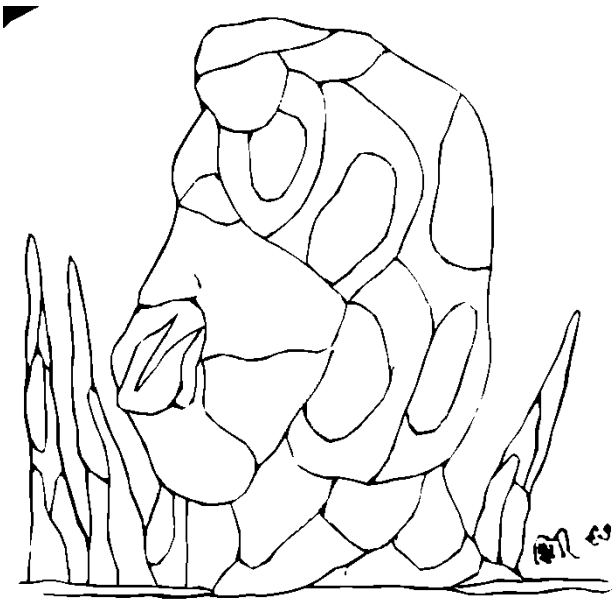

शून्यकाल में बनी सहमतियों के विरुद्ध

गणेश गनी की कविताएँ

गणेश गनी सुपरिचित कवि हैं। वे पारखी सम्पादक और संवादी समीक्षक भी हैं। उनकी आठ कविताएँ अनुनाद को मिली हैं। कविता और समीक्षा में उनकी सक्रियता को उन्हीं के शब्दों में कहें तो **शून्यकाल में बनी सहमतियों** के विरुद्ध एक आपत्ति की तरह देखा जा सकता है। कवि का अनुनाद पर स्वागत है।

आख़िरी बात के स्वर और व्यंजन

जिन लोगों को लगता है कि
जब किसी रोज़ अगर भाषा ही मर जाए
तो कितना कुछ अनकहा छूट जाएगा
वो पीड़ादायक होगा
जब अपनों से सम्वाद टूट जाएगा।

ऐसे समय में भी रहेगी जीवित
चिड़ियों की बोली
तितलियों का व्याकरण
बत्तखों की वाणी
बाघों के संकेत
आदिवासियों की भाषा
उनके विलुप्त होने तक।

भाषा तो तब भी मार दी जाती है
जब प्रश्न पूछने पर
ज़ुबान खींच दी जाती है
जब असहमति के शब्दों का
या तो गला घोंट दिया जाता है
या फिर कारावास की सज़ा सुनाने के बाद
कान फोड़ दिए जाते हैं।

शून्यकाल में इस बात पर सहमति बनती है
कि कील दिया जाए एक एक कर
शक पैदा करने वाले शब्दों को
अब इन्हें कौन समझाए कि आवारा हवा है भाषा
जिसे खूंटी से नहीं बाँधा जा सकता
फिर भी हमारी भाषा में
सारे शब्द स्त्रियों के कहाँ हुए
कुछ हिंसक शब्दों पर
अधिकार केवल पुरुषों का है।

सभ्य भाषा की मृत्यु के बाद
एक शंका तुम्हें
यह भी हो सकती है कि
मनुष्य अंतिम सांस लेने से पहले
किस भाषा में आखिरी बात कहेगा
अंतिम दर्शन और शोकसभा की तैयारी में
आसपास बैठे लोग
जब विलाप करेंगे तो
गले में जो कम्पन होगी, वो किस भाषा में होगी!

कुछ खुरदरे बोलों का मिटना ही बेहतर
जितनी ज़रूरत होगी बोलने की
उतनी भाषा का बनना तय है
भाषा का भूगोल पृथ्वी जैसा है
आख़िरी बात के शब्दों के अक्षर
वास्तव में वर्णमाला के व्यंजन होंगे
और विलाप के वक़्त की ध्वनियां ही
असल में स्वर होंगे
वर्णमाला का तिलिस्म बना रहेगा
यही एक असली भाषा होगी
इससे अधिक न बोला जाएगा
और न ही सुना जाएगा
भाषा ज़ुबान की गुलाम कब हुई
जिस समय यह कविता लिखी जा रही थी
ठीक उस भोर पृथ्वी के किसी कोने में
तुम्हारी उँगलियाँ भी कोई राग बजा रही थीं।

अबूझ पहेली सुलझाने के करीब

बहुत दिन बीत चुके
उसे नहीं देखा, जहां वह अमूमन दिख जाया करता था
अक्सर तेज़ तेज़ कदमों से चलते हुए
वह झलक भर दिखता और गायब हो जाता
दरअसल उसे बैठे हुए पाया ही नहीं गया कभी

उसकी आंखों ने कई सितारों की चमक
अपने भीतर अवशोषित की है
यह सपनों से आगे, बहुत आगे की रोशनाई है
उसकी दृष्टि से लगता
कि नज़र सामने क्षितिज पर सीधी टिकी है
मगर वह अंतरिक्ष में
एक दूसरी पृथ्वी को निहार रहा होता

कहाँ गया होगा
जबकि यह चौराहा तो उसका अपना ही था
उसकी आपसदारी नदी से थी
पुल के नीचे बहती हवा से थी
नदी के पत्थरों की फिसलन के विपरीत
उसके तलवों में तो खुरदरापन था

उसे अक्सर इसी पुल को
पार करते हुए देखा जाता
उसका दाहिना हाथ
कमर से थोड़ा नीचे खिसका पायजामा थामे रहता
बायां हाथ अदब से सीधा तनकर झूलता
उसकी एड़ियों में पहाड़ी नदी जैसा उछाल रहता

वह सुख-दुःख और रिश्तों के बंधनों से
बहुत ऊपर उठ चुका हुआ लगता
वह उल्लास और शोक एक ही भाव से मनाता
एक और ज़रूरी बात
उसने दुनिया में दो कठिन काम साध लिए थे
अब वह भूख और नींद को जब चाहे
उड़ा देता और
जब चाहे स्वयं बुला लेता

उसके नङ्गे पैरों की बिजली भरी चाल बताती कि
कोई ज़रूरी काम उसे याद आया है
और बरसों से अधोए बालों की
लम्बी लड़ियों के बीच से झाँकते
छितराई दाढ़ी वाले चेहरे की चमक कहती कि
वो कोई अबूझ पहेली सुलझाने के बहुत करीब है

कविता लिखने की प्रक्रिया के बीच में

दरअसल हम दो ध्रुव थे
कब कविता
फैलती गई भूमध्यरेखा के आरपार
पता ही नहीं चला
शब्दों की साँसों की गर्माहट से
सारे ग्लेशियर पिघलने लगे
और एक विराट फैलाव
ध्रुवों को छूकर
मध्य की रेखा को मिटाकर
छाया रहा पृथ्वी पर
यह कविता की रोशनी ही तो है
कि सारे रंग एक साथ खिल उठते हैं।

वो आदमी एक पूरी डायरी है

किसी पृष्ठ पर दुःख
किसी पन्ने पर बेचैनी
किसी वर्क पर उदासी
आवरण पर अवसाद रहता है
कभी किसी डायरी में
बसन्त नहीं खिलता।
उसे मत खोलना

वो आदमी एक पूरी डायरी है।

उसके विद्रोही स्वर शासन को रास नहीं आए
तो उसे भीड़ में बदलने के प्रयास हुए
कि झुण्ड के पास बदलने के लिए
कुछ नहीं बचता
केवल आदेश सुनते हैं उसके कान।

ऐसे समय विचारों को ही
बन्दीगृह में डाल
जड़ दिया जाता है ताला
दोस्त हमारा मस्तिष्क
तब बन जाता है हमारा किराएदार।

जब जब लगता है कि
देश में सरकार नहीं है
दरअसल तब तब विपक्ष बीमार होता है
और ऐसे वक़्त सड़क किनारे
काले घोड़े के खुर से गिरी नाल से
छल्ले बनाने वाला भी
क़िस्मत बदलने की ज़ुबान दे सकता है।

इस बीच पता ही नहीं चला

अंतरिक्ष में
तारों और नक्षत्रों के जन्म और मृत्यु के बीच
एक दिन पृथ्वी पैदा हुई
पृथ्वी पर
धीरे धीरे सृजन होता रहा
हवा, पानी, आग के बाद
जंगल उगे
जीव पैदा हुए
इसी क्रमिक विकास में एक घटना घटी
और मानव अस्तित्व में आया
सबसे ख़राब घटना तब घटी
जब डर ने जन्म लिया
और देवता बनाए जाने लगे
और डर बढ़ता गया और देवता भी
इस बीच पता ही नहीं चला
कब देवता डराने लग पड़े!

मिट जाने का हुनर

बादलों का यही गुण है कि
वो बारिश की बूँदों को बड़ी सफ़ाई से
छुपाए रख ऊंचाई पर उड़ते रहते हैं

एक और अदभुत हुनर भी है बादलों में
भर जाते हैं और भी
जब उड़ नहीं पाते तो
बरस कर मिट जाते हैं
बादल फिर जन्म लेते हैं

मुझे भरा हुआ
बादल होना है।

पानी और अक्षर

काली तख़्ती पर सफ़ेद सफ़ेद हर्फ़
जब बहते पानी में धुलकर आगे का सफ़र तय करते
तो दरिया रुककर इन्तज़ार करता
उसे उम्मीद रहती कि
पाठशाला के करीब से बहता झरने का पानी
कभी न कभी तो
नन्हें हाथों की कलम से चीन्हे जीते जागते शब्दों को
उस तक बहा लाएगा।

और फिर एक दिन
सफेद मिट्टी से चीन्हे चमकदार अक्षर

बहते हुए दरिया तक पहुंचे
अक्षर आगे बढ़ते गए
दरिया अब और तेज़ बहता गया
पानी इन्हें अपनी हथेली पर रखकर
सागर तक पहुंचाना चाहता था।
इसलिए दरिया ने पानी से कहा, और तेज़ चलो।

इस बीच पाठशाला के पीछे
बर्फ़ से लकदक पहाड़ से फूटे झरने का पानी
उदास रहने लगा
उसे एहसास हो गया कि
जिन अक्षरों को वह बहा आया नीचे दरिया तक
वे तो कविताएं निकलीं!

झरना अपनी कविताएं वापस चाहता है कि
उसे हवा को यह कविताएं लौटानी हैं
ऐसे में कविताओं का क्या दोष!

रात के अंतिम पहर ज़रहियूं की चोटी पर
बर्फ़ में बैठा चाँद देख रहा है कि
बहुत दूर मैदान में चनाब के इस पार तट पर
हीर पानी की सतह से चुन चुनकर कविताएँ
रेत पर लेटे अपने रांझा को सुना रही है
और दरिया के उस पर
महिवाल अपनी गोद में सर रखे सोहनी को
मीठे पानी से भीगे आखरों को पढ़कर सुना रहा है।

इधर झरना सोच रहा है कि
कब सूरज निकले
और पाठशाला पहुंचे उस नन्हें बालक के
पाँव भिगोकर आभार जताया जाए।

ताकि डरावने प्रश्न टाले जा सकें

बाहर लगभग अंधेरा जैसा ही है
परंतु यह अंधेरा कुछ ऐसा है
जिसका वर्णन करना बड़ा ही असम्भव है
इसे केवल देख कर ही महसूस किया जा सकता है
जैसे कोई पूछे कि
रात के समय जो ढिबरी जल रही थी
उसकी रोशनी कितनी थी!

फिर भी एक आदमी
अपनी दृष्टि बादलों के पार डालता है
और कहता है
दोपहर से अधिक का समय हो चुका है
और छत पर एक हाथ बर्फ़ बैठ चुकी है
रात ढलने से पहले पहले इसे हटाना होगा।

छत के एक किनारे से
बर्फ़ हटाने का काम शुरू होता है
जब तक दूसरे किनारे तक पहुंचते हैं
तब तक छत का साफ किया हुआ भाग
फिर से बर्फ़ ढक देती है।

रात ढलने लगी है
मगर हिमपात रुक नहीं रहा
सिर, कंधों और पीठ पर जमी बर्फ़ को झाड़ने के बाद
बर्फ़ हटाने के लकड़ी के किराणु
घर के एक कोने में पंक्तिबद्ध खड़े रखकर
अब सभी आग के आसपास बैठ गए हैं
एक घेरा बनाकर।

घर के बीचों बीच लोहे की तिपाई पर भी
रोशनी के लिए आग जलाए रखी है
कठिन समय है
तो नींद भी कठिन है आना
न जाने सुबह तक क्या होगा
ऐसे कई प्रश्न मन में उठ रहे हैं तो
अखरोट तोड़ने वाले गिरियां जमा कर रहे हैं
ऊन कातने वाले तकलियाँ घुमा रहे हैं

मुश्किल समय ज़रा धीरे चलता है
इसलिए घर के कुछ सदस्य समय काटने के लिए
पहेलियां भी पूछ और बूझ रहे हैं
ताकि डरावने प्रश्न
कम से कम कुछ समय के लिए टाले जा सकें।

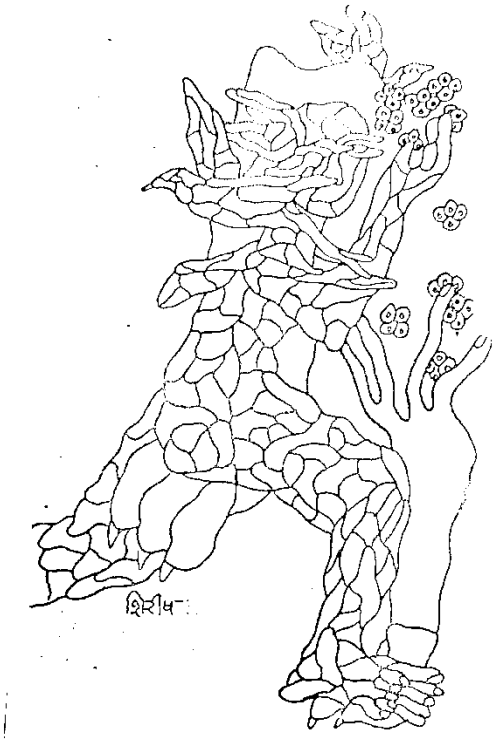

आँखें नम करते सुच्चे क़िस्से

मनोज शर्मा की कविताएँ

मनोज शर्मा हिन्दी के सुपरिचित कवि और संस्कृतिकर्मी हैं। जम्मू में उनका रचनात्मक रहवास शुरूआती तौर पर कविता में एक स्थनीयता के चित्र बनाता हुआ सा भले लगता हो, पर उसमें पीड़ा और वेदना के कहीं बड़े कैनवास मौजूद हैं, जैसे कि गुएर्निका में वह एक क़स्बा भर नहीं है।
इन कविताओं के कवि का आभार और स्वागत।
***

जब फूल खिलते हैं ढलान पर

दूर कोई बांसुरी बजा रहा है
और चल रहा हूं
मैं

कांधे पर लटका थैला
पुस्तकों से भरा है
सामने सूनी है सड़क
चल रहा हूं मैं

रात ने जब ख़ामोशी पहनी
मैं
अपने कुछ और करीब हो गया
ऐसा कुछ घट रहा था उस वक़्त
जिसका पता कतई नहीं चल रहा था

चलते-चलते लगा
अकारण नहीं रहा
दांडी-मार्च
ऐसा भी लगा
हो नहीं सकते हैं क्या
सत्य के और भी प्रयोग
या फिर ऐसी पसरी बर्फ़ को तोड़ते हैं
गोली दागते पोस्टर ही

पृष्ठ पलटते जाते हैं स्वत:
रातें आती-जाती हैं स्वत:
आँखें बहती जाती हैं स्वत:

चलते रहने के भी कई पड़ाव होते हैं
जैसे उम्र की ढलान पर
बहती नदी में
बची रहती है केवल रेत ही
जैसे सांसों में बचा रहता है धुआँ
जैसे अपनों का दबा गुस्सा अचानक फूटने लगता है
जैसे आप सिकुड़ना शुरू कर जाते हैं

दूर,पहाड़ी के उस ओर से
इस बीच आहट आती है
सरसराता है कांधे लटका थैला
माथे पर सजाए
सूरज
काँख में दबाए निबंधों का पुलिंदा
वह ऐसे आता है कि
जीवन पर फैन्की तमाम लानतों को
दरकिनार कर जाता है

असहायों,अनपढ़ों,असंगतों के लिए
दर्जनों सुनहरे सपनों संग वह आता है
और दुख की घुप्पा कोठरियों की
खुलने लगतीं हैं सांकलें
लानतों के कबाड़ के लिए नहीं बचती
धरती

जैसे ही
उतारता है अपनी हैट
ढलानों पर फूल खिल जाते हैं

रात की दरारों से दाखिल होती है
ऊष्णता
फिर से बांसुरी की धुन में खो जाता हूं
मैं

एक पूरी कल्पना है यहाँ
एक ठेठ समाज है
यहाँ भरा-पूरा स्वराज है.

दृश्य विधान

उस शाम
अपनी खिड़की से उसने
ऐसे देखा कि जैसे
मैं कोई दृश्य हूँ
जो थोड़ी देर बाद ओझल हो जाएगा...

इस काल में स्मृतियाँ अपनी तरलता भूल चुकीं हैं
कल्पनाएँ नहीं बचीं हैं देदीप्यमान
सच पेशेवर हो लिया है तथा
प्रत्येक रास्ता बस सफलता के लिए जन्मा है

मैं
दृश्य से कुछ अधिक हूँ
ऐसा कहना चाह रहा हूँ
मुझ पर है समय का आब
माथे पर धूप खिलती है मेरे
मेरे नथुनों में महकते हैं गुलाब

उसने फिर लटें हटायीं
जैसे किसी भी दृश्य की झलक पर करती ही है
उसने फिर असंतोष की ली सांस
जैसे हर सन्दर्भ पर भरती ही है
खिड़की से बाहर,आम की डाल पर
एक चिर-जागरूक कौवा पुतली मटका रहा था
कैसी उत्पत्ति है यह
जिसमें पतित हो चुकीं हैं तमाम भावनाएं
अब अकारण कुछ नहीं होता घटित
बस संधान होते हैं
जिनके केंद्र में ही हैं सामूहिकताएं

मैं
अपने अंतस में उतरता हूँ
प्रत्येक रहस्य किसी नग सा दमकता है
अथाह अनिश्चितताएं मिलतीं हैं बल खातीं
अगिन संवेदनाएं मुसकातीं

पलक खोलते ही पाता हूँ
कटे-फटे जीवन पर बंधी
उम्मीद
किसी पुरानी टाट-पट्टी सी उघडती जा रही है
दुःख
घडुप-घडुप की ध्वनी निकालता
शाश्वत एकांत को तोड़ता जाता है
असफलता के डर ने ढक लिया है समग्र दृश्य-विधान
दृष्टि टिकती नहीं कि पृष्ठ पलट जाता है

मन के भरोसे कुछ नहीं
भावुकता कभी भी भयानक हाहाकार में बदल सकती है
खिड़की से झांकती आँखों का सतत सूखापन
यूं समझ में आता है
दृश्य बदले-न-बदले
रूझान बदल जाता है.

रोज़नामचा

हवा में नमी नहीं है
फिर भी खिल गए हैं सभी फूल
धधकते सूरज के इस कालखंड में
एक चित्रकार
रंग रहा है फफोले भरे पैर

और सड़कें शर्मिंदा हैं

दूर से आ रही हैं आवाज़ें
सुनायी पड़ता है महासागरों का नाद
सपनों तक में
धरती की सारी माताएँ
दुआएं मांगती नज़र आती हैं

देवता तक नहीं बन रहे महान
लेकिन बिलबिला रहा है राजा
जैसे कुछ बुदबुदा रहा है
तैरती आवाज़ों के सामने लेकिन
उसकी आत्ममुग्धता
सीटी सी भी नहीं बज रही है

बुजुर्ग सुना रहे हैं कहानियाँ
जहां पुरातन से भी पुराना काल है
संगीतकार
चिर-परिचित उम्मीद संग
छेड़ रहा है राग
जैसे फूल खिल गए हैं
जैसे अभी-अभी बरसा है मींह

और इसी कालखंड में
अपने घर लौटा
मनुष्य
बिना किसी आत्ममुग्धता
घर की दहलीज़ पर
टेक रहा है
माथा !

बोल ही दूंगा

बोल नहीं सकता
यह मेरी सबसे बड़ी मजबूरी है
सूंघ सकता हूं बेशक
सुन तो रहा ही हूं,क्या से क्या
पर,बोल नहीं सकता

यह कुछ इसी तरह से है
जैसे बगीचे में
पसंदीदा पौधे नहीं रोंप सकता
रसोई में जैसे
मर्ज़ी का खाना नहीं पका सकता

चाहूं-न-चाहूं
अखबार की उन खबरों को पढ़ना ही है
जो दरहकीकत झूठी हैं
चाहूं-न-चाहूं
किसी अघोषित आदेश के तहत
थाली पर बजानी ही है कड़छी
चाहूं-न-चाहूं
धकेला ही जाऊंगा
एक अनाम सत्य की ओर
जिसके पूर्व में कभी नहीं उगता
सूरज

मेरी संतानें सपने नहीं ले सकतीं
नहीं डांट सकती पत्नी मेरी बेहूदगियाँ...
किताबों पर चलाया जा रहा है मुक़द्दमा
घर की दीवारों पर
कोई और तस्वीरें लगा जाता है
और बोल नहीं सकता

क्या इसके लिए है कोई दवा
कोई काढ़ा ही
होम्योपैथी की मीठी गोली
सारे आसन,प्राणायाम,यम-नियम वगैरह करने के लिए
नाभी तक झुका हुआ हूं

जहां जुडते हैं तालु व कंठ
वहाँ बस आवाज़ खुल जाए एकबार

अगर पाऊं बोल
तो इतना ही कहूंगा
ऐसा ऊल-जुलूल रचने वालो
आपको कतई नहीं जानता हूं
भाड़ में जाओ आप सभी !

मीलपत्थर बुला रहा है

सबसे पहले
फूलों से सुगंध गायब हुई
फिर गायब हुए तमाम हुनर
फिर धीरे-धीरे दोस्तियां चली गयीं

हम एक ऐसे समय में हैं
जहां हमारे उगाए पेड़-पौधे
झाड़-झंखार में तब्दील हो चुके हैं

जो हमारे सबसे प्यारे गीत रहे
उनकी धुनें बिगाड़ दी गयीं
वे कांटे हमने नहीं बोए थे
जो हमारे तलबों में धँसे

आजकल
आम के दरख्तों में अंबियाँ नहीं फूटतीं
घौंसले नहीं बनाती चिड़ियाँ
हवाएँ मुकर गयीं हैं
मज़ा देखें कि यह कोई राजनीति नहीं है

वह जो मील का पत्थर है
मैं उसे छूना चाहता था
मैं तय करना चाहता था दूरियाँ
और ये सभी एक ही आकाश के नीचे घटित हो रहा था

मीलपत्थर
किस्सों-कहानियों से परे होते हैं
आसमान में जो एक ध्रुवतारा है
दरअसल वह कई राहगीरों का शत्रु भी है
मुझे देर से पता चला
कि हर राही को अपना अलग ध्रुवतारा खोजना पड़ता है

इस भरे-भरे देश में
बहुत कुछ अधूरा है
इस समझे-समझे माहौल में
आकंठ लिपटी पीड़ा है
मैं
चलता गया मीलपत्थर की ओर
इस बीच बाल पक गए
विचारधाराएँ उलझ गयीं
धरती का पानी सूखने लगा
बच्चे जवान हो गए

चलते-चलते
एक रात यूं लगा
चाँद बूढ़ा होने लगा है
सारे योद्धा लौट आए हैं
कैलेंडर फड़कना भूल गए हैं

क्या कभी पेड़ अपनी जड़ों से नाराज़ होते हैं
क्या वापिस आ रूठे दोस्त मनाए जा सकते हैं
क्या लौटती हैं छूटी रेलगाड़ियां

इस शापित दौर में
पृथ्वी को घूमना ही था
जितना भी धकेलो इच्छाओं को
उन्हें आना ही था

इन सब के बावजूद
मुझे निरंतर आवाज़ दे रहा है
मीलपत्थर
कह रहा है
इस समग्र ब्रह्मांड में

एक मैं हूँ, जो सपने बुनता है

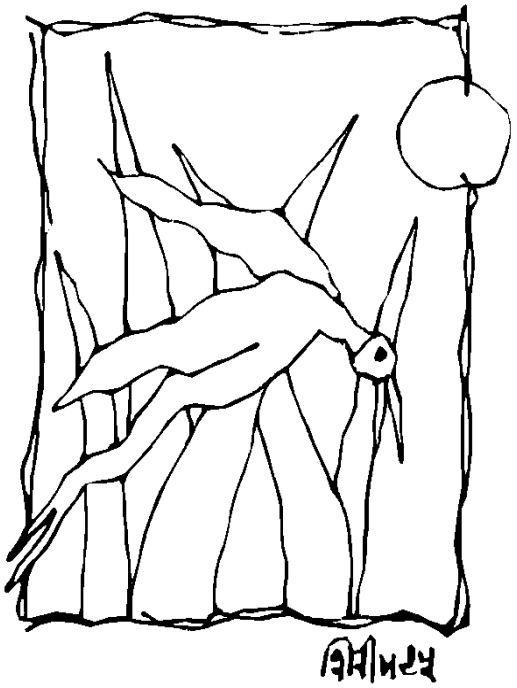

तुम आओ
मेरे लोक में आओ
तुम्हारे तमाम रहस्य,तमाम गोपनियताएँ
यहाँ सुरक्षित रहेंगे
यहाँ गहन अंधकार में भी
हरेक के पास अपने जुगनू हैं
यहाँ साक्षात समय आपसे संवाद करता है
तथा सुरक्षित हैं समस्त वनस्पतियाँ

आओ न यार
मैं तुम्हें ताज़ा बुने गीत दूंगा
और दूंगा आँखें नम करते सुच्चे किस्से
मैं तुम्हें अनारदाने की चटनी सी ख्वाहिशें दूंगा
खुले आकाश में मंडराती पतंगें
गहरी रात में महकती सोच दूंगा
और जैसी उमंग लिए खिला है
अमलतास
वैसी ही ललक भी दूंगा .

(भाई देश निर्मोही को समर्पित)

एक गांछ उम्मीद की

सोनी पाण्डेय की कविताएँ

सोनी पाण्डेय ने पिछले कुछ वर्षों में कविता के पाठकों में सम्मान अर्जित किया है। वे आम हिन्दुस्तानी स्त्री के संसार की ऐसी कवि के रूप में पहचानी गई हैं, जो विमर्श की जटिलता को सामने न रखते हुए जीवन के संघर्ष को लिखने में विश्वास रखती हैं। कविता में वे उस साधारण की प्रस्तोता हैं, जो विमर्श के भीतर अपनी संरचना में विशिष्ट और बहुत महत्वपूर्ण है।

अपने सबसे डरे समय में.....

इन दिनों याद करती हूँ तुमको ऐसे
जैसे याद करती हैं लड़कियाँ सावन के गीत..

तुम्हें याद करती हूँ ऐसे
जैसे फागुन का रंग...

तुम याद करती हूँ ऐसे
जैसे माँ का स्पर्श...

इस तरह बचाए चल रही हूँ इन दिनों
गीतों को
श्रुतुओं को
माँ की ममता के दम पर बचाती हूँ खुद को
और तुम्हें याद करते हुए
लिखती हूँ रोज एक कविता तुम्हारे नाम
अपने सबसे डरे समय में
ये कविता ही है जो बार -बार निकालती है मुझे भय
और अवसाद से.....

तुम्हारा प्रेम...

चुटकी भर नमक सा तुम्हारा प्रेम
मैंने पकाया जतन से
भूख के हर एक कतरे में रख
फटकती, पछोरती ,बीनती,बनाती
अदहन सी आँच पा खदबदाती
एक दिन भाप बन मिलूँगी तुमसे
इन्तजार करना बारिशों के मौसम का
बरखा की हर एक बूँद में समाई मैं
मिलूँगी तुमसे
तुम्हारे माथे को चूम कर लौट आऊँगी
बस इतनी ही चाहत है मिलने की
तुमसे प्रेम करते हुए....
*

खोलती हूँ बचपन की गठरी
कुछ रंगबिरंगी काँच की चूड़ियाँ
रंगीन पत्थरों के टुकड़े
पेंसिल के छिलके
मोर का पंख
एक सूखा गुलाब डायरी में
कुछ पुराने गीत
बारिशों का मौसम
छत पर भीगना
लजा कर लौट आना घर में
बस इतना ही है प्रेम मेरे लिए
तुमसे प्रेम करते हुए....
**

बादलों के घिरते
तुम्हारे आने की आहट पा
कूकती है कोयल
पड़ जाता है नीम पर झूला
छेड़ देती हैं सखियाँ कजरी की तान
तुम्हारा लौटना बरखा में

धरती का बिहस कर खिलना हो जैसे
सब हरा भरा हो जाता है
भर जाते हैं ताल -तलैया
हरी भरी चूड़ियों सी खनकती
हँसती ,इठलाती
गाती,मुस्कुराती
मैं लौटती हूँ सोख कर सारी जलन धरती की
तुमसे प्रेम करते हुए....
***

मैं कहाँ हूँ....

अक्सर सोचती हूँ
कि इस दुनिया में कितनी जगह है मेरे लिए?
कितनी गुंजाइश है इस दुनिया में मेरे लिए अपनी बात कहने की?
मैं सोचती हूँ और सोचती चली जाती हूँ...

चल रही हूँ रेतीले मैदान में
कहीं किसी पैर के निशान नहीं
एक स्थिर दुनिया की तलाश में
पर्वत.. पठार ...मैदानों से होते
उफनती नदी की तरह चली थी
आज मेरे दोनों किनारे उनका कूड़ादान
मेरी छाती तक उनका पीकदान
वह कहीं से
कभी भी
कुछ भी
कह -सुन सकते हैं
कुछ भी उठाकर फेंकते उन्हें संकोच नहीं
उनकी आस्था के मुरझाए फूलों
धूल-गर्द -कूड़ा-कचरा झेलती
मैं सफर में हूँ और लौट जाना चाहती हूँ वापस वहीं
जहाँ से इठलाते चली थी
अब समुद्र से मिलने की इच्छा शेष नहीं.....

रूठती नहीं हैं औरतें....

उलाहनों,शिकायतों,गालियों को पति से मिले तमगे
की तरह सहेजती हैं औरतें
रूठती नहीं हैं ....

हर बार सुनती हैं कि नाक न हो तो विष्टा खांए और
चुपचाप अपनी कोख में उन्हें
सेती,जनती,पालती ,पोसती
तैयार करती हैं जतन से
और एक दिन सुनती हैं बेटों से कि चुप रहो ! समझ
कितनी है आपको?
बाहर की दुनिया कितनी देखी है?
आप क्या जानें दुनिया का हाल?
गाल बजाना अनुभव का झुनझुना हो जैसे
बजते हुए बेटों को निहारतीं हैं औरतें
रूठती नहीं हैं.....

वह प्रेम करते हुए पुरुष की आँखों में खोजती हैं प्रेम
प्रणय आवेग के उतरते
बगल में लेटे उस आदमी को देखती हैं
जो सुबह स्वामी होगा और वह दासी
हर हाल में झूकी औरतें
अपनी पीठ की उस हड्डी को सीधा करना चाहती हैं
जतन से
पूछती हैं अपने किसी गीत में सवाल कि
"इ वेदना हमें ना सहाए,पिया के लाल
कइसे कहइहें?"
उनके इन अनुत्तरित प्रश्नों को सदियों से अपने पैरों के
नीचे दबाए वह मुस्कुराकर निकल जाते हैं
बार -बार दुहराते हैं कि यह घर तुम्हारे बाप का नहीं
आत्मा पर लगे इस अग्नि बाण को सहती
अपना सबकुछ हार कर जीत जाती हैं औरतें
तुम्हे बार-बार जन्म देकर
रूठती नहीं हैं.....

लिखती हुई औरतें

इन दिनों झुण्ड में बैठकर
जंतसार गाते हुए
तुम्हारे पोथी - पतरा ,वेद-,पुराण को धता बताकर
धर्म की चौखट लांघ
लिख रही हैं औरतें....

वह लिखती हैं प्रेम
वह लिखती हैं विरह
वह लिखतीं हैं तुम्हारा दोहरापर कि कब ,कैसे निकल
आता है तुम्हारे भीतर का मर्द
वक्त बे वक्त.....

वह लिखतीं हैं प्रेम और बताती हैं दुनिया से कि सीख
लिया है प्रेम करना हमने
थोड़ा खुद से
एक कविता लिख वह सजा रही हैं कोहबर में
जहाँ राम -सीता के स्वयंवर का चित्र है
मैं तुमसे हर बार एक सवाल करूंगी अबसे
कि तुमसे प्रेम करते हुए कितनी बार होगा मेरा
परित्याग?

वह मेले-ठेले से लेकर मन्दिर तक की यात्रा में
पूछने लगी हैं सवाल
उनके सवाल इतने बेधक हैं कि तुम नकारते हो उसे
कविता कह..
इन दिनों सारे सवाल मुझे मिलते हैं कविता में
जिसे लिख रही हैं औरतें झुण्ड में
रख कर एक - दूसरे के कांधे पर सिर
चूम कर माथा
लग कर गले
वह लिख रही हैं सवाल और मुस्कुरालेती हैं तुम्हें देख
कर
तुम मानों न मानों
इन औरतों ने गढ़ ली है भाषा
सवाल पूछने की
तुम्हारे तर्जनी के नोक से नहीं डरतीं हैं ये औरतें.....

एक गांछ उम्मीद की

काट कर छोड़े गए पेड़ की बची हुई जड़ में
पनपती मैं उम्मीद की एक गांछ हूँ
कटती रही निरन्तर
कभी माँ के गर्भ से
कभी जन्मभूमि से
सखियों से
अपनों से
उनसे भी जिन्हें चाहे -अनचाहे देखा जी भर
काट दी गयी
काट कर भेजते कहा सबने,विदा हुई
विदा मेरे शब्दकोश में
कटने की सबसे क्रूर क्रिया रही
मैं कटती रही..विदा होती रही
पनपती रही पिता की देहरी पर
हर साल
उम्मीद की हरियर गांछ बन
जरा सा रिश्तों की गरमाहट पा.....
***

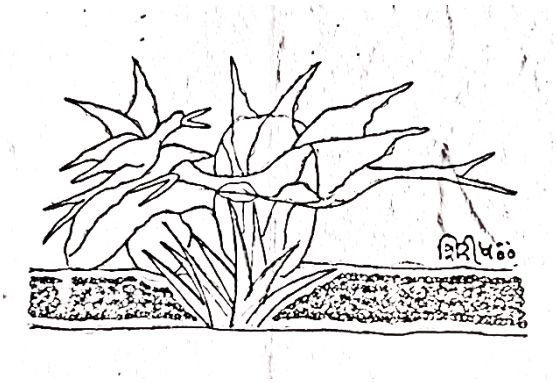

ये दु:ख की नदियाँ हैं क्योंकि किसानों की नदियाँ हैं

कुमार मंगलम की कविताएँ

युवा कवि कुमार मंगलम की कुछ कविताएँ अनुनाद को मिली हैं। ये कविताएँ नदियों के बारे में हैं, जैसे भाषा की नदी में सचमुच की नदी के प्रवाह की प्राचीन एक इच्छा। कविता में अनगढ़- सी एक धारा - कभी मंथर, कभी जल्दी से भरी बहुत तेज़। कहीं बहुत संकरी, कहीं बहुत चौड़ा पाट। कवि ने ही इनका यह सार दिया है कि ये दु:ख की नदियाँ हैं क्योंकि किसानों की नदियाँ हैं।

कर्मनाशा

1.

कहते हैं कि
राजा हरिश्चंद्र के पूर्वज त्रिशंकु ने
सशरीर स्वर्ग जाने की जिद की थी

और राजर्षि विश्वामित्र ने
चुनौती दे दी थी इन्द्रादि देवताओं को

और इस तरह से त्रिशंकु बढ़ने लगे थे स्वर्ग की ओर
देव सभा स्तब्ध थी
कि यह कैसी चुनौती है

और फिर रचा जाने लगा षड़यंत्र
मानवों के विरुद्ध
एक भीषण षड़यंत्र

और त्रिशंकु लटक गए अधर में
त्रिशंकु के लार से बनी एक नदी
जिसे कर्मनाशा कहते हैं

और यूँ नदी लांछित हुई
और शापित भी
उसे स्पर्श करने मात्र से
सभी पुण्यों का नाश हो जाता है

क्या कभी कोई नदी शापित हो सकती है
अथवा
क्या कभी कोई स्त्री लांक्षित

यह देवताओं का षड़यंत्र था मनुष्यों के विरुद्ध

मैं इसी कर्मनाशा नदी के किनारे रहने वाला
एक अदना कवि हूँ

तुलसी बहुत दूर थे तुमसे हे कर्मनाशा
तुम्हें जान नहीं पाए
नहीं तो क्योंकर लिखते
'काशी मग सुरसरि क्रमनाशा'

उनके आराध्य की आराध्या तो गंगा ही थीं
लेकिन मैं जानता हूँ
इसी नदी का पानी पीकर
मेरे पूर्वजों ने अपनी प्यास बुझाई है।
और इसी नदी के पानी से
हमारी फसलें लहलहाई हैं।
जिन्हें खाकर मेरी ही नहीं
कई शहरों की भूख मिटी है।

तो अब बताएं हे देव?
कर्मनाशा कैसे शापित हुई
क्योंकि उसके पानी से उपजे अन्न का
प्रसाद तो आपने भी खाया है।

आज मैं नदी को शाप-मुक्त करता हूँ
और देवताओं के षड़यंत्र को धत्ता बताते हुए
कर्मनाशा के पानी से उपजे अन्न को खाने के जुर्म में

आपको अपराधी पाता हूँ

यह एक नदी से ही सम्भव है
कि
वह आपसे आपका देवत्व छीन ले।

2

कर्मनाशा जो एक नदी है
नदियों में श्राप
दुःख की नदी

मेरे पूर्वज!
कभी समझ नहीं पाए
क्यों यह नदी है दुःख की

अपने बच्चों को बताना चाहता हूँ
कि सुरसरि से अधिक पवित्र
है यह नदी
इस नदी का पानी पीकर
मेरे बच्चे, तुम बलिष्ठ हुए हो।

यह
एक स्त्री नदी है
जो तुम्हारी माँ हो सकती है
बहन हो सकती है
प्रेमिका भी हो सकती है

तमसा, कर्मनाशा, असी,
आमी, दुर्गावती
और भी अन्य
और भी कई
नदियाँ

ये दुःख की नदियाँ हैं
क्योंकि किसानों की नदियाँ हैं।

बारिश के वैभव की ये नदियाँ
पंडितों के व्यापार की नदी नहीं
कर्मशीलों के पसीनों की सहचरी है।
***

सुवरा*

कैसी नदी हो तुम सुवरा
कहते हैं यह महादेश नदियों का देश है
और नदियाँ यहाँ की देवियां हैं

तो कैसे पड़ा तुम्हारा नाम सुवरा हे नदी!
कर्मनाशा की पड़ोस की बहिन नदी
दुर्गावती भी तुम्हारी सखी ही होगी

कैसा हतभाग्य है
कि विंध्याचल का बाँह कहा जाने वाला कैमूर
है तुम्हारा भाई

और तुम्हारे परिजन अलक्षित और अपवित्र
तुम्हारा जल भी
कर्मनाशा और दुर्गावती की तरह
किसी अनुष्ठान का हिस्सा नहीं

तुम्हारे किनारे तो कभी
नहीं रहे कोई असुर
बल्कि देवी मुंडेश्वरी तुम्हारी पड़ोसी हैं
कहते हैं गुप्तकालीन अष्टफलकीय मंदिर
का अनोखा स्थापत्य लिए हुए

बिहार का प्राचीनतम देवी तीर्थ तुम्हारे पड़ोस में बसा
है
फिर भी तुम अलक्षित रह गयी

तुम तो जीवनदायिनी-फलदायिनी नदी हो
तुम्हारे ही जल से सिंचित हो
लहलहाते हैं फसल धान के

किसान के सीने गर्व से फूलते हैं
जब लहलहाती बारिश में बढ़ी चली आती हो
और जब गर्मी में सिकुड़ने लगती हो तो
पनुआ उगा, किसान गर्मी से राहत पाते हैं और धन भी।

पशु, वन्य जीव भी तुम्हारे जल से अपनी प्यास मिटाते हैं।
सुवरा! तुम शास्त्रों में और लोकजीवन में भले ही अलक्षित हो
भले ही तुमसे किसी राजा ने विवाह नहीं किया
तुम विष्णुपद से नहीं निकली
तुम ब्रह्मा के कमंडल में नहीं रही कभी
तुम्हें शिव ने नहीं किया अपने जटाजूट में धारण
तुम उतनी ही पवित्र हो सुवरा
जितनी गंगा

सुवरा!
कैसे तुम स्वर्णा से सुवरा हुई
तुम तो सुवर्णा थी

कथा कहो नदी सुवर्णे!
किसी समय जब मैं स्वर्णा थी
मेरे तली में सोन की तरह मिलते थे स्वर्ण कण
सुंदर वर्णों सी चमकती
कोई अन्य नहीं था
सोन तो मेरा दूर का रिश्तेदार ही था
दूर का भाई

लोगों की भूख बढ़ती गयी
और मेरे रेत से बहुमंजिला इमारत बनती गईं
धीरे धीरे सभी मेरा सब स्वर्ण
मनुष्य के असमाप्त भूख ने,
लोभ ने, लालच ने निकाल लिया मेरे गर्भ से

अब जो बचा मुझमें वह
सिर्फ बजबजाता पानी था

लोककथाओं में मेरी उपस्थिति थी ही नहीं
बाण और वात्स्यायन जो मेरे किनारे के रहवासी थे
उन्होंने दर्ज नहीं किया अपनी किसी कथा में मुझे
शास्त्र से पहले ही बेदखल थी

यह लोभ-लाभ का कुटुंब है मनुष्य
जब उसके लालच की पूर्ति ना कर सकी
स्वर्णा से होती गयी सुवरा

कोई आश्चर्य नहीं कि
कल सुवरा भी नहीं होगी
जैसे नहीं बची स्वर्णा
सुवरा भी नहीं बचेगी
मनुष्य के असमाप्त लोभ से

यह नदियों को देवी मानने का महादेश
नदियों को अपनी भोग्या मानता है
नदियाँ इनके असमाप्त लोभ की सदानीरा है।

*कैमूर जिले की एक नदी, जिसके किनारे कैमूर जिला मुख्यालय भभुआ अवस्थित है। सुवरा जो कभी स्वर्णा नदी थी, लेकिन अब बजबजाती नाली में तब्दील सड़ती हुई एक अभिशापित और विषैली नदी है।
***

नदी, पानी और रेत

1
पानी
को आदमी के आदनी होने का

पता होता है
जब आदमियत
मरने लगती है
आंखों का पानी सूखने लगता है।
2

खून
उतर आता है आंखों में
जब आँख की पानी सूख जाती है
नदी जब रेत हो जाए
आदमियत मर जाती है।
3

गाली
भरने लगता है दिमाग में
जब आदमियत पर अवसाद
हावी होने लगता है
ऐंठता हुआ आदमी
अवसाद और बौखलाहट में
हत्याएं करता है।
***

गंगा किनारे सूर्यास्त

1
गंगा के गर्भ से निकल कर
शहर में बढ़ते हुए
जवान हुआ सूर्य
शहर में दफ़्न हो रहा है
आहिस्ता-आहिस्ता
2.
पहले हल्की ललाई लिए हुए
फिर धीरे-धीरे काला होता जाता है
जैसे गर्म लोहा
आहिस्ता-आहिस्ता
ठंडा हो रहा हो
3.
मेरी पीठ ने इसे दर्ज किया
रैक्व की खुजली को
अपने पीठ पर महसूसता हूँ
जब डूबते सूर्य की ओर पीठ कर
गंगा घाट पर बैठे
इंतज़ार करता रहा
कि किसी गली से
निकल कर अनायास ही
दिख जाओगी
घाटों पर उतरते
4.
जिस शहर से आया हूँ
वहाँ शामें देर तक ठहरती है
रातें अधिक चहलकदमी करती है
दिन चुपचाप गुजर जाता है।
5.
यहाँ सबकुछ
अचानक के लय में घटित होता है
सूर्योदय भी सूर्यास्त भी
जैसे मैं उगा
और ढ़ल भी गया
स्वार्थों के सान पर।
***

परिचय

लोगों को
शहरों के नाम से नहीं जाना जा सकता
नहीं जाना जा सकता उन्हें
उनके गाँव के नाम पर

नदियों से जाना जा सकता है
या तालाबों से
या झीलों से

नदियों, तालाबों या झीलों
को जाना जा सकता है
डोंगी से
नावों से
बजरों से

डोंगी को
नावों को
बजरों को
जाना जा सकता
लकड़ियों से
कीलों से
रंगों से

लकड़ियों को
कीलों को
रंगों को
जाना जा सकता है जंगलों से

मनुष्यों को जानना हो
तो जानो
कि वह किस नदी का है
झील का है
तालाब या पोखरे का है

उसके यहाँ की नावें कैसी हैं
उसके जंगल कैसे हैं
उसके खेतों में क्या उपजता है
उसके यहां कितने हैं पहाड़

मनुष्यों को जानना हो
वह कितना है आदमी
कितना है शहर या गाँव
तो जानो कि
कितना पानी है उसके भीतर या कितना सूख गया है
उस देश का जलस्तर।

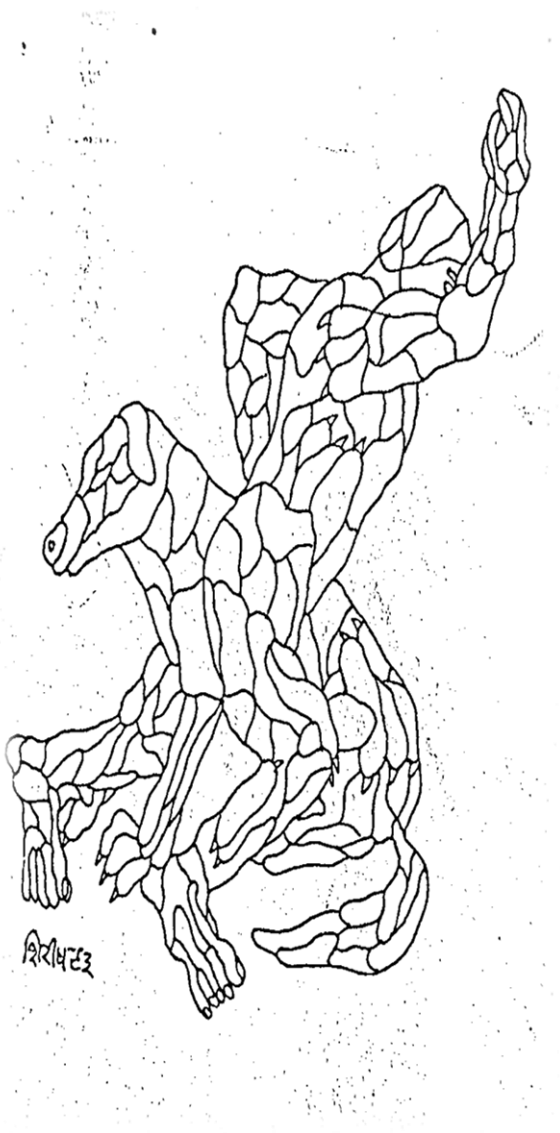

मैं नष्ट कविताओं के सौंदर्य से चिपट कर सोती हूँ

ज्योति शोभा की कविताएँ

ज्योति शोभा की कविताएँ अनुनाद को मिली हैं। इससे पहले उनकी कविताएँ समालोचन, सौतुक और प्रभात ख़बर में देखी गई हैं। ज्योति हिन्दी कविता संसार के लिए नया नाम हैं पर सोशल मीडिया पर वे लगभग रोज़ ही कविता पोस्ट करती हैं, इस तरह फेसबुक पर कविता के पाठकों के लिए वे ख़ूब परिचित नाम भी हैं।

ज्योति ने अपने परिचय में लिखा है कि वे हिन्दी, अंग्रेजी और उर्दू की जानकार हैं। पाठक महसूस कर सकते हैं कि इन कविताओं में बंगाल की भी एक बहुत स्पष्ट सुगंध है। बंगाली कविताओं और गद्य की स्मृति इनके लहजे और मुहावरे में शामिल है, जिससे बांग्ला समाज और साहित्य में कवि के आत्मीय रहवास का पता चलता है। अपनी पढ़त में ये कविताएँ कभी-कभी बंगाली कला फिल्मों के दृष्य सरीखी भी लगती हैं।

कविता जब देर से प्रवेश पाती है जीवन में तो ख़ुलूस के साथ आती होगी। बहुत सी अनुभूति , बहुत से संवेग और अपार हठ लिए। ऐसे में रचना ही मनुष्य को रचती है। यही संदर्भ मेरे लिए सबसे उपयुक्त है जो कविता कहने की तुष्टि से अधिक तृष्णा देती है। संसार ने अपने अनुरूप रचे समाज में साहित्य भी अपने अनुरूप रचा है और छूटे हुए विद्रूप सौंदर्य कसमसाते रहे। समस्त भुवन के हृदय के विस्तार में बहुत सी घटनाएँ इस तेज़ी से घटती गयी कि इतिहास सिकुड़ता गया और साहित्य को इतनी आकस्मिकता भुलाने में कोई मेहनत नहीं लगी। कुछ उनकी और कुछ अपने शहर की भाषा है इन कविताओं में जो कहती हैं - सुनो !

\- ज्योति शोभा

खटका लगा रहता है

कब से ख़राब पड़ा था कमरे का दरवाज़ा
सोते जागते खटका रहता
कोई चोरी न कर ले नेहरू की किताब
द डिस्कवरी ऑफ़ इंडिया
जो १९४६ से अब तक बिल्कुल नयी है
एक लकीर नहीं खींची मैनें अपनी पसंदीदा जगह पर

खटका लगा रहता
कोई नींद न चुरा ले जिसमें चेनाब का पानी रहता है
और बंगाल का सुंदरवन
देश निकाले हुए कवि और पुरस्कृत पत्रकार जहाँ एक साथ पीते हैं सिगरेट
वह मेज़ न ले जाए कोई
कितनी बार वहीं आती है मुझे झपकी

तीसरे पहर उठता कोई
गंगा पार जाती
मालगाड़ी को हरी झंडी दिखाने
खटका होता कहीं उसमें भेजा तो नहीं जा रहा मेरा पीतल का डब्बा
पहचान के लिए जो काला पड़ गया था

आज ही बुलाया एक राजमिस्त्री को
और कहा सागवान का काठ लगाओ दरवाज़े में
लोहे की साँकल
भय नहीं होना चाहिए घर में रहते

रात बिरात किलकता है मेरा शिशु स्वप्न में
और हँसकर मैं पूछती हूँ उससे
क्या बनोगे मेरे भारत देश तुम बड़े हो कर !

प्राकृतिक रूप से सुन्दर वस्तुओं में एक मेरी भाषा है

प्राकृतिक रूप से सुन्दर वस्तुओं में एक
मेरी भाषा है
तुम जितना प्रयास करते इसे अलंकृत करने का
यह उतनी ही नष्ट होती थी

जैसे सुवास नहीं आती अगर पट खुले भी रहें
बहुत बार पकाई गयी मछली अपनी गंध खो देती है

किसी रोज़ तुम अपने नख देखना
उन्हें पेसोआ के आत्मज्ञान की जरुरत नहीं
मृत्यु की तरह उनमें घात करने का सौंदर्य है
जो मारता नहीं
बल्कि चरम अज्ञान की बेला अपनी ही त्वचा में
धंसकर
मोह नष्ट कर देता है जीवन से

जंगली पेड़ों की तरह मुझे सुहाती है तुम्हारी चुप्पी
जहाँ चाहूँ वहाँ रुक सकती हूँ
सुन सकती हूँ -
सृष्टि के अंधकार में
ईश्वर रेंगता है त्वचा पर रूप बदल के

तुम प्रेमी रह चुके हो
इस देश की नागरिकता के तुम दावेदार रह चुके हो
तुमने अभिनय भी किया है कवि होने का
क्या लगता है तुम्हें
यह जो तुम आते हो पखवाड़े बाद और वैसी ही पाते
हो देह
घाम भरे सुख में
वैसे ही केश आत्मा के रहस्य को ढकते हुए
वैसा ही नाम गोपन होता हुआ उच्चारण के अंत में
ग्रीवा पर जहाँ एक एक दिन पूस का सूर्य उगा था
बस एक अनुराग की मेघपंक्ति सूखती हुई
उसमें कितनी सज्जा है !

तुम्हारी ऊँगली धरते ही यह जो इच्छा की तरह लहर
उठती है पानी में
कितनी सुन्दर है ?

कोई जलसाघर है बाहर

अदृश्य वाद्य हैं
उपजे हुए धवल खेतों में
तट दूर हैं इस रात में

खिड़की से सिर्फ हवा आ रही है
अनंत कामनाओं को ढोती और निर्रथक गिरती हुई
वट वृक्ष पर

कोई जलसाघर है बाहर
झरता अपने संगीत में

सोचती हूँ कहूँ कोई पुरानी बात - भाषा तिक्त लगती
है
खाड़ी का हृदय आलोकित इतना कि
काँप रहे हैं पाल नौका के
ऋतुमती के रोम जैसे उठते हैं गिरते हैं

ठीक कनपटियों के बीच निर्वाक है लौ
ठिठुरी
सम्मोहित सी- हिलती भी नहीं

एक हल्की आँच ध्वस्त कर देती है अंधकार में सुपारी
के पेड़ों की तन्द्रा
हमें नहीं दिखती

कुछ नहीं है दृष्टि में
ना नग्न उँगलियाँ ना आकाश मापती लकीर की सिरहन

कितनी श्वेत हो सकती है ऐसे में मृत्यु -
हठात कह बैठती है मेरी काया

तुम कहते हो
शिशिर की चाँदनी जितनी।

तुम किस तरफ हो

तुम किस तरफ हो

क्या लेनिन की तरफ
जो एक बुत की तरह सुन्दर प्रेम की प्रतीक्षा में है

या रबिन्द्र ठाकुर की तरफ
जो शांतिनिकेतन की हरीतिमा में भी ढूंढें से नहीं मिलते

मुझे कुछ नहीं दीखता

मैं जो जीवित हूँ
क्या तुमसे परास्त होने की वजह से !

लील जाने को ही बना है यह संसार

लील जाने को ही बना है यह संसार

इसलिए कहती हूँ
जीवित नहीं बचेंगे तीताश के तट पर तुम्हारे प्रिय घोंघे

तुम श्रीहरि की चाकरी में बीता रहे हो जीवन
इधर कम हो रही है जलकुम्भियाँ पोखर में

नाटक के पात्र बन गए हैं तुम्हारे छायावाद के कवि

अभ्यास लगभग बिसरता जाता है बोलने का
ऐसे आलोक में पढ़ती हूँ बिमल मित्र को
कि हल्दी से धूसरित हो जाते हैं शब्द

केवल एक कंबल का साझा था हमारा
बीच में अब कई सचित्र किताबें आ गयी हैं
छापेखाने , बेरोजगार पत्रकार , अफीम में डोलते संपादक आ गए हैं
पुलिस आ गयी
नयी धाराएं आ गयी हैं

कल मौन का अधिकार भी छीन जाएगा
लुप्त हो जाएंगी बाड़ी के पीछे नूतन गुड़ जैसी लगी इमली की पतली फली

इसलिए कहती हूँ
नहीं बचेगी तुम्हारी प्रिय की रसोई
भूखी मर जाऊँगी किन्तु मूंग की दाल में आम की फांक बिल्कुल नहीं डालूँगी।

लज्जा क्यों आएगी मुझे

लज्जा क्यों आएगी मुझे
केश न रहें तो न सही
मुंडित सर लेकर भी घूमूँगी विक्टोरिया में

गांधी बाबा कहेंगे -
अब घर जाओ , हिंसा होगी देश के प्रमुख के देखते

आते समय देखूंगी
कितने में आते हैं अब शुकों के पिंजरे
थोड़ी क्रूरता तो इस बात में होगी
जब झगड़ पड़ूँगी मल्लिक मियाँ से और
दिखावे की करुणा खरीदूँगी मृत्यु के पैसे से

लज्जा क्यों आएगी मुझे
कि तुमने हाथ पकड़ लिया घास के मैदान में
जबकी दूर प्रांत की भरी बस में पढ़ते थे लोग बम
बनाने के तरीके

न रहे मंदिर न सही
ढह जाए मस्जिद
सब ढूंढते रहें ईश्वर माथा झुकाने
मुझे लज्जा नहीं आएगी
तुम्हारे सिर को अपने वक्षों में छुपाते हुए।

आशावान होते हुए

अधिकांश पुस्तकें जल रही हैं
जंगल तो पहले ही देवालयों के किवाड़ बन गए
अंधकार नष्ट नहीं हुआ
निर्मम आलोक में बदल गया है

बर्तन ठंडा था आंच पर उंगलियां तप्त
लगता है
रसोई की नैतिकता में चमकीले रंग का ढोंग है
मुख तिक्त हुआ आता है लाल साग बनाते

घोर कलयुग है प्रिय
जल को जल नहीं काटता
विष को विष बढ़ावा देता है

खजूर के वृक्षों से कागों के दल उड़ते हैं
स्वेद चू पड़ता है वक्षों से शिशिर के मध्याह्न तरुण
छाँह में

भाषा अमान्य हो गयी जो खजुराहो की दीवारों पर
अंकित हैं
मूर्तिकार पुनर्जन्म लेकर आये हैं
गुप्त रोगों की जड़ी बूटियां बेचते हैं चौराहों पे

अत्यंत स्नेह से जो तुमने अपनी कमीज भिजवाई थी
वह अब भी रखी है मेरी साड़ियों की तह में
मैं अब भी आशावान हो जाती हूँ वस्त्र बदलते।

शुभकामनायें और धन्यवाद

इस बार तुमने शुभकामनायें नहीं दी
इस बार मैंने धन्यवाद नहीं कहा
बाहर २०वीं सदी की घोडागाड़ियाँ चलती थी
जुलुस स्वाधीनता के लिए शोर करते थे
हमने सुना , सुन कर ठन्डे पड़े हाथों को सहलाया
तब तक शाम घिर आयी

सफ़ेद ब्लॉउज की कढ़ाई में टांके सब गुलाब मुरझाने
लगे
और हमारी नरम गोद से पानी अपने पैर खींचने लगा
तुम्हें याद आ गया
इतने सुसज्जित नहीं होने चाहिए चित्र कि
कीड़े भेद समझ लें

इस बार तुम चुपचाप गए
मैंने बहुत धीमे से दरवाज़ा बंद किया पीछे।

निश्चिन्त रहो

निश्चिन्त रहो
प्रेम के आभाव में तुम अकेले नहीं पड़ोगे
चुम्बनों के निशान भूल जाओगे तुम
और पढ़ने लगोगे धर्मग्रन्थ

प्रार्थना से उठ कर
मिलाने आओगे नदी पर दो छोरों पर
इस बार रुकोगे कलरव के शांत होने तक
देखे हुए दृश्य फिर देखोगे

कोई न कोई पशु तुरंत ही साफ़ कर देगा घास का जंगल
जैसे जगह बनाता हो सूर्यास्त के लिए

निश्चिन्त रहो
इतना भी हल्की नहीं होती पत्तियों में अटकी रौशनी
कि झकोरे से गिर पड़े
साफ़ लिखा होता है पवित्र दीवारों पर
देह आत्मा का वस्त्र है
तुम कभी नग्न नहीं रहोगे
निश्चिन्त रहो।

संसार का विश्वास न उठे उत्सव से

लाल होंठों जैसे लाल बिम्ब घुले हैं आकाश कुसुम में
उँगलियों में नहीं
काठ की कंघी में बंधे केश छटपटाते हैं
कोकिल समूह जैसे

बांकी हो जायेगी देह अगर उठाओगे शरत का मेला दिखाने
नष्ट हो जायेगी नीवी
जो बनी है कोमल बेली से

संसार का विश्वास न उठे उत्सव से
इसलिए अच्छा हो
विकल कविता ही सुना दो ठाकुर की

जब शांतिनिकेतन की रेल पकड़ूँ
संग वाली जगह में बैठो
और दिखाओ
छातिम के वृक्षों के पार नभ में नदियां बहती हैं

लाल पाड़ की साड़ी जल्द छीजती है
अरुणिम सूर्य नहीं छीजता
चेष्टा करके खो जाऊ
तो बुलाओ भीड़ भरे पंडाल में
बगैर नाम धरे।

कातर होने वाली पृथ्वी में कितनी चाँदनी है

तुम ईश्वर के साथ सोते हो आजकल
तुम्हारी नींद को रोकते नहीं है प्रहरी
सुख का दरवाज़ा खोलते हुए
इधर ठंडा होता रहता है मेरा कमरा भादो की रात्रि में

खोली हुई अंगूठी फिर नहीं अटती ऊँगली में
थर्राता है संसार अगर किसी मृत पुरखे को एक हल्की पुकार भी लगाती हूँ

ज्वार चला आता है पीछे
मोरपंखों के रंग इतने सहज नहीं जितना समझते हैं कवि

पावस का अंकपाश कठोर है
ऊष्मा छूटने के लिए ऊष्मा की जरुरत होती है

उठना मत तुम बीच नींद में
पूछना मत
कातर होने वाली पृथ्वी में कितनी चाँदनी है

तुम को सच कहूँगी
मैं नष्ट कविताओं के सौंदर्य से चिपट कर सोती हूँ।

कलकत्ता मत आना तुम

हर तीसरे पहर घटाघोप मेघ जैसी स्मृति घेर लेती है

कलकत्ता मत आना तुम
इस क्षुधा से विकल समय में नहीं
इस अनंत श्यामलता में तो बिलकुल भी नहीं

सहजता से पार लोगे उफान खाती हुगली

किन्तु सूर्यास्त पीताभ कर देगा तुम्हारा मुख
कालिमा ढक लेगी तुम्हारा छंद

तुम रुक रुक कर टटोलोगे
तिमिर में छुपे संवाद

सब कहेंगे कवि पथभ्रष्ट हो गए हैं कलकत्ते में।

मुझे यकीन नहीं हुआ था

पहले कहते थे पूर्वज कवि
पृथ्वी से बड़ी हो जायेगी एक दिन कविताएं

मुझे यकीन नहीं हुआ था

जबकि आ गए हैं इसमें अब बेमौसम के पतंगे
अधिक भाषण के कारण हुई राजा की साँसों में

तक़लीफ़ ,
सेना की करुणा , चोरों के राहत शिविर
यहाँ तक की साम्प्रदायिकता मुक्त बर्तन आ गए हैं
निचाट मकानों के अकेलेपन से ऊब कर

मुझे फिर भी यकीन नहीं होता

सब सलज्ज कवियों के चरित्र को जगह दे सकेगी
कविता
फैलाव की भाषा में गहराई नहीं होती

जिस कविता में भीड़ का बेघर दुःख आ रहा है
उसके बाहर खड़ा है एक पुश्तैनी पहरेदार
पहचान पत्र मांगता है
कविता में जाने के लिए।

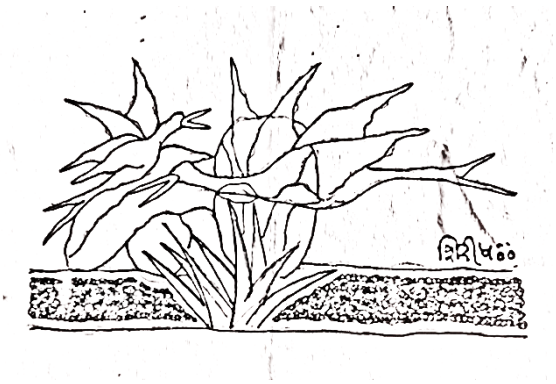

ताकता हुआ मैं दिशाकाश : कविता का युवा मौसम

सिद्धेश्वर सिंह

वरिष्ठ कथाकार - सम्पादक ज्ञानरंजन ने कई वर्ष पूर्व अपने एक पत्र में किसी संकोची व्यक्ति के लिए कहा था कि वह जीवन के तलघर में रहकर काम करता है। सिद्धेश्वर सिंह पिछले कई वर्षों से इसी तरह हिन्दी कविता के इलाक़े में एक ख़ामोश लेकिन महत्वपूर्ण कवि और अनुवादक के रूप में मौजूद रहे हैं। निजता में उन्हें जानने वाले जानते हैं कि वे ख़ूब सुलझे हुए स्नेही व्यक्ति हैं। हिन्दी की हलचलों पर उनकी प्रतिक्रियाएँ हमेशा ही बेहद सौम्य किंतु बेधक होती हैं। अनुनाद ने ऐसी हलचलों पर उनसे एक लेख का अनुरोध किया था। यह लेख हमें मिला है, इसके लिए अनुनाद लेखक का आभारी है।

***

इसी पृथ्वी के किसी कोने में दो लोगों के बीच बादल -बारिश से भीगी हुई एक सुबह में संपन्न हुए एक दीर्घतर टेलिफ़ोनिक संवाद का इस तीसरे मोर्चे पर उल्लेख इसलिए हो पा रहा है कि इसमे केवल तेरी - मेरी बात नहीं बल्कि 'उसकी' बात भी हुई थी। मुझे लगता है कि यदि यहाँ 'भी' की जगह 'ही' लिखा जाता तो बेहतर होता क्योंकि इस बात के केंद्र में आज की हिंदी कविता ,खास तौर पर युवा कविता की बात विद्यमान थी।

अब थोड़ा - पात्र परिचय। अपने बारे में क्या लिखूँ? महादेवी वर्मा की कविता पंक्ति में कहूँ तो यह कहूँगा - 'परिचय इतना इतिहास यही'। या फिर अमृता प्रीतम की एक मशहूर किताब का शीर्षक उधार लूँ तो कहूँगा - 'रसीदी टिकट' जिसकी पीठ पर लिख लिए जाने भर का ही बायोडेटा मेरे पास है। जिस व्यक्ति से संवाद हुआ वे हिंदी के एक आलोचक -प्रोफेसर हैं ;युवा और ऊर्जा से भरपूर। विपुल विद्या और विरल विनय के मेल से बना यह नौजवान खूब गंभीर तरीके से लिखता - पढ़ता है।

इस संवाद कथा के कुछ और पात्र भी हैं जिनका परिचय उनकी लिखी कविताएं हैं क्योंकि हमने उनकी कविताओं की पंक्तियों ,थीम , पात्र, संदर्भ, लोकेल और शीर्षकों के साथ याद किया। इस वार्ता का हासिल यह रहा कि उस युवा मित्र को सचमुच हिंदी कविता के मौसम का हालचाल ठीक से पता है जबकि इस समय तमाम तरह संसाधनों व पाठ्य सामग्री की सहज सुलभता के बावजूद अक्सर लगता है कि पढ़ा कम जा रहा है और यदि पढ़ा भी जा रहा है तो सेलेक्टिव ज्यादा है। इसमें दिक्कत बस इतनी लगती है कि इस सेलेक्शन की सामर्थ्य और सीमा क्या - कैसी है? यह बहुत कम आँका जा रहा है और त्वरित कथन का उतावलापन है हम दोनों ने खूब बातें कीं और हम दोनों की इस निजी वार्ता में निंदा की अनुपस्थिति उपस्थित रही। वे इस बात से बड़े खुश थे कि हिंदी के युवा कवि खूब अच्छा लिख रहे हैं। उनके पास कुछ अच्छे कवियों और उनकी कविताओं की सही निशानदेही थी तथा कुछ जानकारी वे मुझसे चाहते थे कि ताकि जब वे कहीं जल्द ही व्याख्यान देने वाले हैं तो तैयारी पूरी रहे और यथाशक्ति इन्फॉर्मेशन फर्स्ट हैंड हो क्योंकि 'प्राध्यापकीय आलोचना' कहकर खारिज किया जाना हिंदी जगत के ट्रेंड में है। यह स्वर पहले भी मुखर था लेकिन अब यह बहुत वाचाल है।

तो हमने क्या बात की ? हमने बात यह की कि हिंदी कविता के बड़े घर में अन्न -धन्न अकूत है लेकिन हम इस राशि के कोष को ठीक से या तो देख नहीं पा रहे हैं या फिर देखकर भी इतने घुन्ने बने हुए हैं कि जो मन में है वह कह नहीं पा रहे हैं। मुझे अक्सर लगता है कि अच्छी कविताएं अपने लिए जगह बना लेती हैं। यदि वे सचमुच की अच्छी और सच्ची है तो उनकी जगह हमारे दैनंदिन जीवन में हो जानी चाहिए। अपनी बात यदि और स्पष्ट रूप में कहूँ तो क्या आपको कोई

वस्तु, कोई दृश्य ,कोई व्यक्ति ,कोई प्रसंग ,कोई घटना ,कोई स्थिति देखते समय किसी कविता की याद आती है?

इस समय हिंदी कविता के घर में 'झगरा भारी' है। एक ओर छंद - विच्छन्द की बात - बतकही जारी है। नामावली का विरुद और बतंगड़ है। कुछ लोग जो हाशिए पर रखे गए हैं उनका स्वयं का नोटिस न लिया जाना साल रहा है और यह उचित भी है। अभी ऐसे समय में जब एक लंबी तालाबंदी के बाद माहौल 'अनलॉक' की ओर अग्रसर है तब जरूरी है कि अच्छी कविता को संवाद ,विमर्श या बातचीत के सूप में रखकर फटकते - पछोरते समय सहजता, संतुलन व संयम व को ईमानदार रखा जाय।

बात की बात में आज के संवाद में यह बात सामने आई कि जिस तरह टीवी पर मौसम का समाचार आता है उसी तरह कविता के मानचित्र पर क्यों न अच्छी कविताओं का प्वाइंटर का पकड़कर कुछ लोकेशंस देखे जायं कि ताकि पता चले कि कहाँ का अधिकतम व न्यूनतम तापमान कितना है? बादल बरसात और बर्फ की आमद के अंदेशे कहाँ - कैसे है? कहाँ खूब चटख धूप खिली है ? कहाँ निरभ्र नील आकाश शोभायमान है और कहाँ समय ,समाज की संगति - विसंगति के फलस्वरूप विक्षोभ बन रहा है तथा अंधड़ और चक्रवात की आहट है?

प्रिय युवा आलोचक को कहीं बोलना है। इस बोलने से पहले उन्हें लिखना है। लिखने से पहले अब तक के पढ़े के पुनर्पाठ के साथ नया भी पढ़ना है। पढ़ने के बाद गुनना है तब लिखना है और लिखे का फाईनल ड्राफ्ट तैयार करते समय यह यकीनी तौर पर खुद को तैयार रखना है कि यह अंतिम ड्राफ्ट नहीं है। कुछ लोग कहेंगे कि इतनी मेहनत कौन करता है भाई? मैं तो यही कहूँगा की मैं ऐसे कई लोगों को जानता हूँ जो जमकर तैयारी करते हैं तब जाकर कुछ कहने के लिए खुद को तैयार करते हैं।

आज की सुबह कविताओं के जरिए आत्मिक संवाद से आबाद हुई। मुझे लगा कि सचमुच मुझे खुशी है कि मेरी सुबह में रंग भरने के लिए हमारी हिंदी के संसार में कविताओं की कमी नहीं। बात बस इतनी है कि उनके लिखने वालों को ठीक से देखा जाय , सराहा जाय और उनके लिखे को जब आलोचना की कसौटी पर कसा जाय तो 'बिगाड़ के डर से ईमान की बात' कहने में संकोच न हो ,भाव व भाषा ठीक रहे ; भंगिमा में भदेसपन न आने पाये। दूसरी ओर कवियों के लिए बिन माँगी सलाह यह है कि कान में हर वक्त मिश्री घुलने की उम्मीद से उछाल मिलते देर नहीं लगेगी। हो सकता है कि इफरात में ईनाम - इकराम भी मिल जाय लेकिन समय की शिला पर अंकित किए जाने योग्य लिखना अभी बाकी है यह ध्यान से हटने न पाए। चर्चा ,विमर्श और बतकही के लाइव - अलाइव लोगों से बस इतनी 'अरज' है कि अपने चयन व कहन को प्रवचन बनने से बचने की सावधानी जरूर बरतें ताकि विश्वसनीयता बनी रहे।

तो , मैं खुश हूँ कि हमारे युवा आलोचक - प्राध्यापक मित्र हाल ही में जब कहीं बोलेंगे तो उसमें थोड़ी - बात मेरी भी होगी, जिसमे कुछ पसंदीदा कविताओं के उद्धरण होंगे और कुछ वे समर्थ - संभावनाशील नाम, जिनकी 'बात बोलेगी ; हम नहीं'। अब आप अपने तरीके से ,अपनी समझ से ,अपनी पसंद से यह अनुमान लगाइए कि वे कविताएं कौन सी होंगी और उनके नाम कौन से होंगे?और अंत में अपने परिचय में बस इतना जोड़ दूँ कि मैं परिधि समझे जाने वाले भौगोलिक परिवेश में रहने वाला हिंदी का एक मास्टर हूँ;अगर आपको यह शब्द हल्का लग रहा है और आप इस अकिंचन को थोड़ी इज्जत बख्शना चाहते हैं तो प्रोफेसर कह लीजिए। हाँ ,तो बात यह है कि जिस तरह मेंरे विषय और मेंरी कक्षाओं में छात्रों के मुकाबले

छात्राओं की संख्या अधिक है तो ठीक वैसे ही इस समय हिंदी युवा कविता के परिसर में स्त्री कवियों की धमक भरपूर है और आज सुबह के संवाद में यह बात रेखांकित हुई कि 'यही सच है'। खैर ,अंजुम इरफानी का यह शेर देखिए -

इधर सच बोलने घर से कोई दीवाना निकलेगा
उधर मक़्तल में इस्तिक़बाल की तय्यारियाँ होंगी।

अजंता देव की कविताएँ

अनुनाद ने **अजंता देव** से कविताओं के लिए अनुरोध किया था और हमें उनकी चार शीर्षक विहीन कविताएँ मिली हैं। यहाँ **कुछ बुझता है तभी कुछ जलता है** की एक अनोखी प्रस्तावना से हमारा सामना है, जिसे दरअसल पहली कविता के निष्कर्ष के रूप में लिखा गया है। ज़हर से बचने के लिए एक बार उसका शिकार बनने की ज़रूरत को रेखांकित करने वाली कवि अजंता देव का यह **कवि-समय** उतना संक्षिप्त और सरल नहीं है, जितना एकबारगी दिखाई पड़ता है। आप एक पंक्ति पढ़ते हैं और आगे बढ़ जाते हैं, कुछ आगे बढ़ने पर अचानक आपको उसी पंक्ति पर दोबारा लौटना पड़ता है। आप यहाँ कुछ भी चमकीला नहीं पाते, बस इतना पाते हैं कि यही जीवन है।

***

1.

क्या एक चिर काली चादर काफ़ी होगी
मेरे जीवन भर के स्फुलिंग ढकने के लिए
जैसे रोशन हुए थे एक एक कर तारे
क्या वैसे ही बुझ जाएँगे एक एक कर
जैसे खो दिया प्यार क्या खो दूँगी प्यार के फ़रेब भी ?
बारिश की बूँदों की तरह टपक रही है मृत्यु
मेरे अंगारे छनक रहे हैं रह रह कर
किसी सुबह ये सिर्फ़ कोयले रह जाएँगे
पूरी रात वर्षा के बाद

कुछ बुझता है तभी जलता है कुछ ।

***

2.

साफ़ चमकीली हँसी सिर्फ़ ख़ुद के लिए होती है
स्त्रियों की
तुम्हारे सामने वो पान दोख्ते और लिपस्टिक से ज़्यादा
होती ही नहीं
क्या तुम जानते हो कब कब हँसी थी स्त्री
जब तुम कमज़ोर थे
बेरोज़गार
डरे हुए
शंका और दर्प के बीच झूलते हुए थे
उसने ख़ुद को बचाया हँस कर
उसने तुम्हे भी बचाया
और हँस पड़ी मुँह छिपा कर
आते हुए भी हंसी थी
तुम्हारे पीठ पीछे
और जाते समय भी हँस देती है स्त्री
जिसे देख नहीं पाता पुरुष
पीछ से ।

***

3.

ज़हर से बचने के लिए
एक बार बनना पड़ता है उसका शिकार
पता लगाना पड़ता है
शरीर में कहाँ कहाँ उसने गड़ाए हैं पंजे
जगाना पड़ता है अपनी सुप्त सफ़ेद कोशिकाओं को

ज़हर से ज़हर ही लड़ सकता है
और इसकी कोई तालीम नहीं मिलती उस्तादों से
जाना ही पड़ता है मौत की कगार तक ।

***

4.

अगर तुम नहीं पहचानते ज़हर तो ज़रूर मर जाओगे
किसी दिन धोखे में
उसे चखो ,उसका स्वाद याद रखो
याद रखो कि अब कभी नहीं चखना है ये स्वाद
.....

छंद की समकालीनता या तो यमाताराजभानसलगा

संदीप तिवारी

संदीप तिवारी हिन्दी के सुपरिचित युवा कवि हैं। उन्हें वर्ष 2019 में कविता के लिए रविशंकर उपाध्याय स्मृति पुरस्कार मिला है। रचना और आलोचना, दोनों के स्तर पर उनमें बहुत सम्भावनाएँ हैं। हिन्दी के कवि उपन्यासकारों पर वे शोध कर रहे हैं। समकालीन कविता में छंद पर जो एक बहस वरिष्ठ कवि संजय चतुर्वेदी ने इधर आरम्भ की है, उस बहस को ध्यान में रखते हुए लिखा गया संदीप का यह लेख अनुनाद को मिला है।

***

समकालीन हिंदी कविता पर इधर एक चर्चा शुरू हुई. लेकिन जैसा होता रहा है कि चर्चाएँ अपने मूल से भटक जाती हैं. यहाँ भी वही हुआ. एक तरफ तो पूरी समकालीन हिंदी कविता को ही कटघरे में खड़ा कर दिया गया. और उसी के साथ कविता में छंद और हुनर की वापसी की बात कही गई . वहीं दूसरी तरफ से छंदों की वापसी की बात को फासीवादी मांग कहा जाने लगा. न तो समकालीन कविता में हुनर की कमी है और न ही छंद और लय में कविता रचने वाले सभी लोग फासीवादी सोच के हैं. बात कविता और उसके तत्वों से शुरू हुई और होते-होते व्यक्तिवादी हो गई . खैर इसमें क्या आश्चर्य कि सोशल मीडिया पर शुरू होने वाली हर बहस का कुछ- कुछ ऐसा ही अंत देखने को मिलता है .

जबकि हमें इस बहस का स्वागत करना चाहिए था. वह कोई भी हो, किसी भी विचारधारा का हो, इसका कोई मतलब नहीं. अगर बहस के केंद्र में कविता है तो, हमें उस बहस का मूल बिंदु पकड़ना चाहिए तब जबकि बहस बहुत ज़रूरी हो चली हो. क्या हम सच का सामना नहीं करना चाहते ? या सच सुनना हमें गवारा नहीं है. बल्कि जो बातें उठीं वह कविता का कोई साधारण पाठक बहुत पहले से कहता और सोचता रहा है. हम इसे समझ पाते यदि हम उस दुनिया तक थोड़ी पहुँच रखते, जहाँ हिंदी का साधारण पाठक रहता है .

छंद और मुक्त छंद की बहस कोई नयी नहीं है , यह बहुत पुरानी हो चुकी है. रामस्वरूप चतुर्वेदी कहीं इसे शिया सुन्नी का झगड़ा कहते हैं. लेकिन फिर भी आज की कविता पर हम अगर बात करें, तो बिना इस बहस के हम आगे नहीं बढ़ सकते. निराला जी की लिखी परिमल की भूमिका का वह हिस्सा जिसमें कविता को छंद के बंधन से मुक्त करने की बात कही गई , उसे ऐसे मामले में बार-बार उद्धृत किया जाता रहा है. मतलब इस बहस में सबसे पहले निराला के कंधे पर बन्दूक रखी जाती है. जबकि सच तो यह है कि निराला आदि से लेकर अंत तक छंद को छोड़ नहीं पाए.

जब यह दलील दी जाती रही कि युग का यथार्थ बहुत बदल चुका है और अब कविता सिर्फ गद्य की भाषा में ही संभव है . तब हमें उस पूरी परम्परा को भी देखना चाहिए जो छंद से कभी विलग नहीं हुए और कविता की भाषा और उसकी लय को साथ लेकर चले. क्या नागार्जुन, त्रिलोचन, केदार जी के समय का यथार्थ जटिल नहीं था? या वह किसी दूसरे समय में रच रहे थे. प्रगतिशील कवियों में तो छंदों, गीतों और बोलचाल की गद्य में लय भरने का अद्भुत सामर्थ्य रहा है. कविता का साधारण पाठक तो ऐसी कविताओं को पसंद ही करता है. विद्वान्, पढ़े- लिखे , प्रतिरोधी चेतना से लैस लोग, आन्दोलनकारी आदि भी इन कविताओं को उतना ही सम्मान से याद रखते हैं. कोई भी प्रतिरोध हो, किसी भी सत्ता के खिलाफ कहीं कोई लामबंदी हो तो सबसे पहले ऐसी ही कविताओं की याद क्यों आती है. क्यों हमें बार- बार इन्हीं के पास जाना पड़ता है. क्योंकि इसमें कविताई है , संप्रेषणीयता है , लोगों

की आत्मा और चित्त को कविता से जोड़ देने की अद्भुत क्षमता है.

हमें यह सोचना चाहिए कि यदि यह सब कविता का गुण नहीं अवगुण है, तो लोग क्यों ऐसी कविताओं की तरफ आकर्षित होते हैं? क्यों ऐसी कविताओं को याद रखते हैं ? यदि हम सचमुच साहित्य से प्रेम करते हैं तो हमें ज़रूर इस पर ठहरकर सोचना पड़ेगा.

समकालीन कविता ने अपना बड़ा पाठक वर्ग खोया है. इस बात को मानने में अब न कोई संकोच होना चाहिए. न झिझक . यह हमारा कड़वा सच है. हम इससे आँख नहीं मूँद सकते. मूंदना भी नहीं चाहिए. ऐसा क्यों हुआ होगा ? इसके कई कारण हैं . पर हम अभी सिर्फ इसके एक महत्वपूर्ण कारण की ही चर्चा करते हैं. जो इन दिनों ज़ेर-ए- बहस है. दिन-ब-दिन कविता के पाठक या श्रोता का कम होते जाने का एक कारण, कविता का अपनी ही लय से विमुख हो जाना भी है. लय की ताकत थी कि वह हमारी रोजमर्रा को, हमारे संघर्षों को, हमारी संवेदनाओं को कविता में बांधती थी. लोग भाषा की इस लयात्मकता सम्मान करते रहे, पसंद करते रहे और ऐसी कविताओं में डूब जाते रहे , उन्हें सीने से लगाए रहे. समकालीन हिंदी कविता ने कविता के इस रूप को बहुत हद तक तोड़ दिया. और इसे तोड़ने का नुकसान अब किसी से छिपा नहीं है.

निराला ने भी मुक्तछंद की वकालत सिर्फ इसलिए की थी कि वह भाषा की छिपी शक्ति को सामने ला सकें. वह कविता को बोलचाल की भाषा के बहुत पास लाना चाहते थे. कविता की नयी शक्तियों की खोज कर रहे थे. लेकिन वह कविता के मूल से कभी न विमुख रहे न इस तरह से कभी सोचा. आलोचक रामविलास शर्मा निराला की साहित्य साधना में लिखते हैं- "उनके मन में मुक्त छंद के प्रति कहीं शंका है. शंकित मन कहता है, बोलचाल की लय को अपनाने के लिए यह आवश्यक नहीं कि मुक्त छंद ही लिखा जाय, सानुप्रास मात्रिक छंदों में भी यह कार्य संभव है."

मुक्तिबोध की कविता 'भूल गलती' का ज़िक्र करते हुए भगवत रावत कहते हैं कि उन्होंने मुक्तिबोध को प्राइवेट वार्ड में यह कविता पढ़कर सुनाई. अपनी कविता सुनने के बाद मुक्तिबोध उनसे कहते हैं- "कविता में यह जो लय है भाषा की, यह कविता का गुण है अवगुण नहीं, इसे कभी मत छोड़ना."

लेकिन हमारा दुर्भाग्य है कि अब हम इसे कविता का अवगुण मानने लगे हैं. मुक्तिबोध जिस लय की बात कर रहे थे वह समकालीन हिंदी कविता में कितना बची? और कितने कवियों ने उसे अब तक बचाए रखा. यह सोचने की बात है. कविता ने अपना पाठक ऐसे नहीं खोया . और अपना रूतबा ऐसे ही नहीं जाने दिया. उसका एक बड़ा कारण उसका अपने मूल से कट जाना भी है. और उसका धीरे-धीरे दुरूह और जटिल होते जाना भी है. धीरे- धीरे यह चल निकला कि कविता की जटिलता और दुरुहता को ही उसका गुण बताया जाने लगा और कविता के गुण को अवगुण मान कर निकाल फेंका गया. कोई सहज संप्रेषणीय कविता हुई तो उसे उसकी भाषा से ही सतही औसत और खराब कविता की कोटि में रखा जाने लगा. हम कविता के भीतर से कोई बहुत बड़ी बात, या उसके बहुत भीतर छिपी कोई बहुत गूढ़ बात, या फिर कोई चमत्कृत करने वाला कोई वाक्य ही तलाशते रहे. और कविता के भीतर की सहजता को हम अपने बगल से ही खो जाने दिए .

भाषा की ऐसी दुरुहता रघुवीर सहाय को परेशान करती थी. वह कविता की एक ऐसी भाषा तलाश रहे थे, जिसका केवल एक अर्थ हो. वह लिखते हैं - "इसलिए कहूंगा मैं / मगर मुझे पाने दो / पहले ऐसी बोली / जिसके दो अर्थ न हों."रघुवीर सहाय भाषा में कविता को सहज बनाने के पक्षधर थे. उन्हें

पता था कि कविता जितना जटिल होगी पाठक उतने दूर जायेंगे.

मुक्त छंद की वकालत में निराला के परिमल की भूमिका से यह पंक्तिया हमेशा उद्धृत की जाती रही कि "मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बंधन से छुटकारा पाना है. और कविता की मुक्ति छंदों के बंधन से अलग हो जाना."[i] कविता को छंद के बंधन से मुक्त करने पर उन्होंने जोर दिया . पर यह भी सच है कि निराला जीवन भर छंदों की प्राण- प्रतिष्ठा में लगे रहे. वह शब्दों के नित नये- नये अर्थ तलाशते रहे. डॉ रामविलास शर्मा कहते हैं- "हर तरह का कमाल मात्रिक छंदों में ही दिखाना उन्हें प्रिय हुआ. इसलिए निराला की अधिकाँश कविताएँ मुक्त छंद में नहीं, सानुप्रास मात्रिक छंदों में हैं."

जिस छंद को हम यह कहकर तोड़े कि हमें अपना यथार्थ व्यक्त करने के लिए, अब बोलचाल की भाषा में कविता लिखना ज़रूरी हो गया है. छंद तो टूट गया पर बोलचाल की भाषा और सहजता को छोडकर हम भाषा की दुरुहता की डाल पकड़ कर लटक गये. यह ज़रूरत महसूस नहीं हुई कि कि सहज लिखी गई कविता में हम देखें कि उसमें कविताई कितना है. अब हमें इसपर पुनर्विचार करने की ज़रूरत है कि कहीं समकालीन कविता में भी हम इसी तरह के ढर्रे पर तो नहीं चले जा रहे हैं. और युवा पीढ़ी तो पारम्परिक रूप से हमेशा अपनी पुरानी पीढ़ी से कविता का सलीका सीखती रही हैं. तो अब इसपर भी सोचने की भी ज़रूरत है कि कहीं युवा कविता भी उस जटिलता और दुर्बोधता का जाने अनजाने शिकार तो नहीं हुई.

जब आज गद्य और कविता की भाषा में बहुत फ़रक करना मुश्किल हो गया है. तो अब कवियों के लिए गद्य लिखना कोई कसौटी और चुनौती भी नहीं रहा. फिर कवियों का एक दायित्व यह भी बनता ही है कि वह अपने भीतर उठने वाले तरह-तरह के विचारों के लिए, गद्य की अन्य विधाओं के साथ भी कदम ताल करें. कविता जैसी विधा के ऊपर पहले से ही अधिक बोझ है. आज गद्य की कई विधाएं प्रचलन में हैं और खूब पढ़ी भी जा रही हैं. कविता से तो ज्यादा ही पढ़ी जा रही हैं. ऐसे में सिर्फ कविता के ऊपर ही अनावश्यक बोझ लादना, कहीं से भी उचित नहीं जान पड़ता है. इसलिए कवियों को अन्य विधाओं में भी आवाजाही करनी ही चाहिए . हर विचार को कविता का रूप दे देना भी कविता के साथ एक तरह से ज्यादती है.

और अंत में यही कि कोई कविता सिर्फ इसलिए अच्छी नहीं हो जाती कि वह बहुत बोधगम्य है. सहज है. या छंद, लय या वाद्य की भाषा में लिखी गई है. बल्कि कविता के तत्वों की तलाश उसके भीतर भी हमेशा की ही जायेगी. जैसे कथा का पाठक कथा में किस्सागोई खोजता है वैसे ही कविता का पाठक कविता में कविताई तलाशेगा. यह हर पाठक का अधिकार है. हम उसे उसके अधिकारों से वंचित नहीं कर सकते. न ही बहुत दिनों तक उसे गुमराह कर सकते हैं.

इस बहस में जिस हुनर की वापसी की बात उठाई गई, वह हुनर कम नहीं है. कवियों के पास हुनर तो बहुत है. मुक्त छंद में बहुत सारे कवियों ने अपने कहन के लिए एक नयी और बहुत ही प्रभावी भाषा अर्जित की जिसके कारण भी उनकी बहुत सी कविताओं को हमेशा याद किया जाता रहेगा. लेकिन समग्रता से समकालीन हिंदी कविता पर बात करने के लिए एक बार पीछे मुड़कर ज़रूर देखना चाहिए कि समकालीन कविता की हालत कैसी है. ऐसा क्यों हुआ कि लोग कवियों से दूर भागने लगे. ऐसा क्यों हुआ होगा कि कविता सुनाने और कवियों को लेकर चुटकुले और मजाक बनने लगे . एक बात और कि कवि-लेखक या साहित्य से बहुत गहरे जुड़े लोग भले कविता की मुक्ति की बात समझते हों. पर बहुत सामान्य सा पाठक इस मुक्ति की बात को कतई नहीं जानता. वह कविता के इस रूप में जरा सा भी सहज नहीं है. वह कहीं दूर बैठा अभी भी अपनी खोई हुई कविता तलाश रहा है. संभव हो थोडा बहुत उसके पास पहुँच भी जाती हो.

हेमंत देवलकर की दो कविताएँ

जीवन के रंगमंच में बहुत बड़ा एक नेपथ्य होता है। जैसे हर चीज़ जीवन से कविता में आती है, यह नेपथ्य भी वहाँ से कविता संसार में आता है। बहुत अच्छे कवि अकसर कविता के नेपथ्य में देखे गए हैं। हेमंत देवलकर उनमें से एक हैं। वे लम्बे समय से रंगमंच पर सक्रिय हैं और कविताएँ भी लिख रहे हैं।

अभिशप्त कविता में एकलव्य के पुराप्रसंग को वे जीवन, समाज, देश और दुनिया में बार-बार नया पाते हैं। एक महाकाव्यीय टीस, मिथकीय पछतावा और अन्याय की इतिहासपूर्व यह स्मृति, तीनों ही बिलकुल नए समय में और भी सघन हो मनुष्य के सामने खड़े हो जाते हैं। हमारा यह समाज संकटों को अकादमिक रूप से पहचानने, उनकी परिभाषा और उन पर विमर्श में करने में व्यस्त रहा है और इस बीच ये संकट अपने मूल स्रोत से कहीं अधिक विशाल, निर्मम और भयावह होते चले गए हैं। सिद्धान्त से व्यवहार में आते और जूझते जन नहीं देखे कब से और इस तरह बेहद ज़रूरी एक तफ़सील जो बनती नहीं देखी, एक हद तक उसी तफ़सील में ले जाने की कोशिश यह कविता करती है।

दूसरी कविता **जूता** अपने अंत तक आते मानवजाति के एक महाख्यान तक पहुँच जाती है, जहाँ - **फूल हाथ से छूटकर उड़ने लगे थे / मैं पसीने का एक बादल था / धूल का एक रथ / मेरे वेग को देखते दिशाएं परे हट गयीं / और मुझे रास्ता दिया / मेरे स्तन दूध से भरने लगे थे / और मुझे लगातार ये ख़याल आ रहा था / कि मेरे ईश्वर को भूख लगी होगी** । ईश्वर की परिभाषाओं से भरे इस संसार में इस कविता का ईश्वर बहुत अव्यक्त-सा एक ईश्वर है और इस तरह वह कितना ईश्वर है, इस पर भी विचार करना होगा। अनुनाद ने कुछ समय निष्क्रिय रहने के बाद वापसी की है और हमें हेमंत की कविताएँ इस वापसी के प्रथम काव्यदृश्य की तरह मिल सकीं, इसके लिए अनुनाद कवि का आभारी है।

***

अभिशप्त

द्रोणाचार्य लौट चुके थे, अंगूठा लेकर
एकलव्य वहीं पड़ा था निश्चेष्ट
रक्त फैला था पास ही
उसके कबीले के लोग सारे जमा थे आसपास
इतना भीषण था आक्रोश उनमें कि
नि:श्वासों से काँप काँप जाता था जंगल ।

शाप बनकर फूटा क्रोध उनका
गुरु द्रोण जा चुके थे दूर, सुनाई उन्हें दिया नही
एकलव्य के कान भी थे निस्पंद
सुनाई उसे भी दिया नही
सुन कोई नही पाया, शाप वह क्या था ?

गुरु द्रोण ने एक बहती नदी में
उछाल दिया कटे अंगूठे को
और धूल उड़ाता रथ उनका लौट गया ।
*
कहते हैं वह शाप उस युग मे फला नहीं
उल्का बनकर अंतरिक्ष मे भटकता रहा
**
बहुत बुरे सपने से आज नींद खुली
एक विशालकाय उल्का पृथ्वी से टकरायी थी
और सब कुछ उथल पुथल था

हज़ारों सदियां गर्त से निकलकर सामने आ गयी हैं
मैंने देखा
पृथ्वी पर सिर्फ़ अंगूठों का अस्तित्व है
सुबह-शाम दफ्तरों को जानेवाली सड़कों पर,

रेलों में सिर्फ़ अंगूठे भाग रहे हैं
शरीर का सारा बल, पराक्रम अंगूठों में सिमट चुका

कितनी कलाएँ, उनका कौशल,भाषा यहां तक कि
आवाज़ भी अंगूठों के अलावा बाहर कहीं न थी
एकदम वास्तविक से लगते बड़े बड़े आभासी पहाड़ों
को
धकेल रहे हैं अंगूठे
और पसीने की एक बूंद तक नहीं ।

निश्चेष्ट पड़ी हैं मनुष्य की भुजाएं
जैसे एक दिन संज्ञाशून्य पड़ा था एकलव्य
लौट आया है उसका अंगूठा
और फैल गया है गाजर घास की तरह पृथ्वी पर
अचानक मुझे सुनाई दिया वह शाप ।
***

जूता

मंदिर के बाहर उसे उतार आया था मैं
जैसे कोई तांगा उतार देता है सवारियाँ
लेकिन उतारने और छोड़ने में फ़र्क़ है बहुत
मैं उसे छोड़ नही पाया ।

जूता स्टैंड वाले ने उसकी पावती के बरअक्स
पतरे का एक टुकड़ा मेरी ओर उछाल दिया
मैंने देखा- एक संख्या थी उस पर
पतरे का वह मामूली टुकड़ा
एक बेशक़ीमती धातु में बदल गया था
और संख्या एक अलौकिक पासवर्ड में

मैंने मुड़कर जूते को देखा
फिर हाथ के उस टुकड़े को आश्चर्य से
कितना जादुई है ये रूपांतरण
किसी निषिद्ध चीज़ को इतनी आसानी से 'स्वीकृति' में
बदला जा सकता है (?)

उसे जेब मे डालते हुए लगा कि मैंने कुछ बो दिया है
यकायक होश आया कि कितने दिन बीत गए यहीं
जूता स्टैंड पर खड़े-खड़े
मैं भूल ही गया कि ये जगह मंदिर नहीं
और ईश्वर जूता नहीं ।

बहुत लम्बी क़तार मंदिर के भीतर
घंटियां हिल रही थीं
भीड़ लगातार कुछ बुदबुदा रही
मगर मुझे कुछ सुनाई नहीं दिया
कुछ भी नहीं ।

मेरे कानों में गूंज रही थी जूते की संख्या
मैंने भीड़ के हिलते हुए होंठ देखे
क्या सब अपने-अपने जूते की संख्या जप रहे हैं ?
मैंने अपनी जेब को देखा जहाँ वो प्रतीक रूप में
मौजूद था
मैंने गहरी साँस ली
पहली बार मुझे अंतरात्मा शब्द पर भरोसा हुआ
मैंने उसे हथेली में भर लिया और मेरी आत्मा से एक
ही आवाज़ निकली - जूता
यह कोई पवित्र मंत्र था , जो मेरे मुँह से निकला था
।

मेरे एक हाथ मे फूल थे दूसरे हाथ मे जूता
कभी कभी मैं भूल जाता कि किस हाथ मे क्या था
फूल और जूते का फ़र्क़ मिट जाना-
'ज्ञान' की शुरुआत यहीं से होती होगी
यही सोचते कतार में आगे बढ़ते रहा
जूता सिर्फ़ ज़मीन पर नही चलता
उसके बारे में सोचो तो विचारों में भी चलता है
कल्पनाओं में भी
इस वक़्त मेरी हर धमनी में चल रहा है
मेरी सारी प्रार्थनाओं में चल रहा है जूता
और अब कोई मेरी कामना बाकी नहीं ।

जैसे-जैसे गर्भगृह नज़दीक आ रहा था
वो संख्या और मंत्र ज़ोर शोर से पूरे शरीर मे बजने लगे
और वह क्षण - !!
मैं ठीक पिंडी के सामने था
भीतर बवंडर मचा हुआ
लगा पृथ्वी लट्टू की तरह घूम रही है
इसके पहले कि मैं फूल वाले हाथ को चुनता
मैंने पतरे का वो टुकड़ा पिंडी की ओर उछाल दिया
और भागा
भागा बाहर की ओर
किधर होता है - बाहर ?
भागना बाहर की ओर ही क्यों होता है ??
ये सब सोचते हुए भागा
भागा जैसे कोई अंधड़ हो
छोटी-बड़ी कितनी ही घंटियों का शोर मेरे पीछे
फूल हाथ से छूटकर उड़ने लगे थे
मैं पसीने का एक बादल था
धूल का एक रथ
मेरे वेग को देखते दिशाएं परे हट गयीं
और मुझे रास्ता दिया
मेरे स्तन दूध से भरने लगे थे
और मुझे लगातार ये ख़याल आ रहा था
कि मेरे ईश्वर को भूख लगी होगी ।
***

जीवन की भाषा या तो कविता की भाषा

अमित श्रीवास्तव

त्रिलोचन ने कभी कहा था –

लड़ता हुआ समाज, नई आशा-अभिलाषा / नए चित्र के साथ नई देता हूँ भाषा

समय है कि अब इस नई भाषा पर बात की जाए और इस क्रम में अनुनाद के अनुरोध पर **जीवन की भाषा या तो कविता की भाषा** को लेकर कवि-कथाकार अमित श्रीवास्तव ने अपने 'अहसास' आत्मीय और अनौपचारिक कहन के साथ भेजे हैं। हम उम्मीद करते हैं कि कविता की भाषा को लेकर अनुनाद पर सिलसिलेवार कुछ बातें हो सकें। हम संवाद में फिर उसी सार्थक और संयत बहस की खोज में हैं, जो कभी अनुनाद की पहचान होती थी। अमित को इस पहल के लिए शुक्रिया।

1.

इस भुस्कैट* हो चले विवाद से बेहतर है हम भाषा के मुद्दे को एक अलहदा तरीके से समझने की कोशिश करें. मुझे लगता है सबसे सशक्त भाषा वही है जिसमें किसी मुसीबत में फंसा आदमी अपनी जान बचाने के लिए किसी को पुकार लगाता है और वो दूसरा उसे सुनकर, समझकर बचाने के लिए आ जाता है. एसओएस वाली भाषा. अब वो पुकार हिंदी, मंदारिन, फ़ारसी, अंग्रेज़ी जैसी खालिस भाषा में हो, भाषाओं-बोलियों की खिचड़ी में हो, या उसमें इशारे भरे हों उससे बेहतर और सच्ची भाषा हो नहीं सकती. उसे क्यों न शुद्धतम भी माना जाए, सुंदरतम भी कहा जाए? क्या आप उस भाषा में लिख सकते हैं? अगर हाँ तो आपसे बेहतर साहित्य कोई नहीं रच सकता.

भाषाओं को पायदान पर रखना अदब के लिहाज़ से ठीक नहीं है लेकिन समझने के लिए हम कह सकते हैं कि एसओएस के बाद दूसरे दर्जे की भाषा वो होती है जिसमें कोई भूखा इंसान रोटी मांगता है. इसे आप थोड़ा विस्तार देकर रोजी-रोटी तक ला सकते हैं. रोजगार की भाषा. बहुत ताकतवर और जीवनानुकूल. एकदम परफेक्ट शेप, साइज़ और एटीट्यूड में.

तीसरा दर्जा मेरे लिए लोक की भाषा का है. जन की भाषा. जिसे हम बोली कहकर फुसलाना चाहते हैं. संस्कृति व्यवहार की भाषा. बहुत कम डेविएशन दूसरे और तीसरे नम्बर की भाषाओं में होना चाहिए. मुझे लगता है एक स्वस्थ, इंडिपेंडेंट, वाइब्रेंट समाज में ये दोनों भाषाएं एक सी दिखती हैं. दोनों में अलगाव इतिहास की कुछ तारीखों में बड़े धचकों की वजह से हुआ होता है. इस उठापटक का खामियाजा पीढियां बर्दाश्त करती हैं. सजग समाज धीरे-धीरे इन झटकों से बाहर आ जाता है और व्यहवारिक समाधान निकालता है. व्यावहारिकता दूसरे दर्जे के प्रति ज़्यादा समर्पित होती है क्योंकि जीवन सरलता की ओर चलना चाहता है और यही बात भाषा के ऊपर भी लागू होती है.

इन सबके बाद आती है साहित्य की भाषा. भाषा, साहित्य से नहीं चलती. साहित्य, भाषा से ही चल सकता है. दिक्कत ये है कि अक्सर साहित्यकार ही इस बात को भूल जाता है. लेकिन फिर भी अगर साहित्यकार भाषा का रोना रो रहा है तो उसे दरकिनार नहीं किया जा सकता क्योंकि वो समाज के आगे मशाल लेकर चलने वालों में से है. बहुत ज़रूरी है उस रोना-रोहट को सजगता से परखने की. वो अपने लिए रो रहा है या दूसरे, तीसरे दर्जे की भाषाओं के लिए या उस खाई के लिए जिसने ऐसी परिस्थितियां पैदा कर दीं कि समाज में कई भाषाओं-बोलियों की सहजीविता की जगह भाषाओं-बोलियों के दर्जे पनप गए. आदर्श स्थिति वो होती है जिसमें समाज में बहुत सी भाषाएं हों, उनके बीच व्याकरणिक अंतर तो हो, इस तरह के दजे नहीं. साहित्य की, संस्कृतियों की, रोजगार की

भाषाओं में कोई बड़ा अंतर या विवाद न हो. इस तरह से दर्जों में बांटकर देखने की ज़रूरत ही न रहे.

साहित्य उसी भाषा में सुंदर हो सकता जिसमें ये लोगों की बात करे, उनसे बात करे और जिनकी बात करे उनतक पहुंचे. भाषा की शुद्धता से ज़्यादा आवश्यक है संवाद की परिपक्वता और भागीदारी. जिस भाषा में एक बड़ा जन समूह छूट जाए या संवाद में इंगित अर्थ टूट जाएं तो ऐसी भाषा का क्या फायदा?

अनुवाद के लिए भी यही बात लागू होती है. अपनी भाषा में तर्जुमा मूल बात से समझौते जैसा नहीं होना चाहिए. अगर हमारी भाषा में उस भाव को शक्ल देने के लिए कोई मुफीद शब्द नहीं है बनाया भी नहीं जा सकता तो दूसरी भाषा से शब्द ले लेने में ही समझदारी है. किसी अन्य भाषा या बोली के शब्द जुड़ने से भाषा समृद्ध और सहज होती है. किसी शब्द का तर्जुमा अगर सहज और सुंदर तरीके से नहीं हो सकता तो उसे दूसरी भाषा से ही क्यों नहीं लिया जा सकता? जीवन ऐसे ही नहीं चलता क्या? कैप्सूल से काम नहीं चलता तो इंजेक्शन लेते हैं या लिक्विड दवा को आसवित कर चूर्ण बना उसे जमाकर टैबलेट में परिवर्तित कर तब खाते हैं?

ध्यान रहे ये सारी बात भाषा की को रही है इसे कथ्य से रिप्लेस न कर लिया जाए. बात को कहने के तरीके की बात है ये, बात की बात नहीं. बहुत कम्युनिकेबल भाषा में अगर खराब विचार उलीचे जाएं तो इसे किसी भी दशा में अच्छा नहीं कहा जा सकता. बहुत सरल-सामान्य-रोजमर्रा की भाषा में भी सुंदर बात कही जा सकती है, बहुत सुसज्जित भाषा में गालियाँ.

काज़ी हसन रज़ा साहब का एक शे'र है-

रोके है तल्ख़ बात से मीठी ज़बाँ मिरी
इक बूँद ज़हर सिद्क़ मुझे घोलने न दे

मुझे अपनी भाषा में अभिव्यक्त नफरत के बरक्स दुनिया की किसी भी भाषा में जताया गया प्रेम चाहिए. प्रेम की भाषा ही मेरे लिए सबसे प्रभावशाली सम्पर्क भाषा है, सजग राष्ट्रभाषा है, सरल राजभाषा है सबसे सुंदर मातृभाषा है!

2.

'भाखा तोहार महरी नाय हौ...' राम जियावन सिंह, हमारे हिंदी के मास्साब से जाने किस सन्दर्भ में ये पूरी बातचीत हुई थी. उस दिन उनकी पूरी बात ख़ालिस जौनपुरी ज़ुबान में थी, जिसमें से अवधी और भोजपुरी को अलग-अलग लगाना पुरानी दिल्ली रेलवे स्टेशन के किसी पैसेज ब्रिज पर खड़े होकर आने वाले यात्री और जाने वाले यात्रियों को अलगाने जितना कठिन था, पूरा मतलब समझना उन जाने वालों में मुंगेर जाने वालों की संख्या जानने के बराबर यानि और भी कठिन था.

आज सालों बाद कह सकते हैं कि काम भर की बात निकाल ली है, मतलब इतना भर निश्चित तौर पर जान लिया है कि जो ट्रेन पर चढ़ेंगे वो जाने वाले होंगे.

उस बातचीत में उनके कहे का तब्सिरा हमारी समझ में, हमारी भाषा में कुछ इस तरह से है-

साहित्य से जुड़े हुए लोगों का, मुख्यतः बात लेखक को लेकर कही गई थी, भाषा से सम्बन्ध प्रेमी-प्रेयसी वाले मामले से शुरू होता है. ज़ाहिर है लेखक प्रेमी है और भाषा प्रेमिका. (इसमें अन्य कई उपबन्धों के साथ सबसे मजबूत बन्ध वही है, मध्यमवर्गीय पुरुष मानसिकता.) फिर एक दिन मन ही मन वो उससे विवाह कर लेता है. अब भाषा के साथ वो पति के जैसा व्यवहार करने लगता है. जिस प्रेमिका के साथ वो घण्टों दश्तो सेहरा में घूमा किया था, उसे घर की चारदीवारी में महदूद करने लगता है. होते-होते वो एक ऐसी कंडीशन्ड अवस्था में पहुंच जाता है जब उसे लगता है कि भाषा

को उसकी इजाज़त के बिना छींकना, खाँसना और साँस लेना भी वर्जित है.

उसे पता ही नहीं चलता कि जिस भाषा को लेकर वो इतना पज़ेसिव हो रहा है, वो तो कब की घर से निकल कर आवारा हो चुकी है. उसके कितने ही यार बन गए हैं.

बाबू, जिस समय आप भाषा के कपड़े-लत्ते, बोलने-बतियाने और घूमने-फिरने को मालिक की नज़र से देखने लगते हैं वो आपके हाथ से निकल जाती है. और अगर आपकी तानाशाही की वजह से आपके साथ रह भी जाती है तो रूढ़ हो जाती है, रुग्ण हो जाती है, ठूंठ हो जाती है. फिर एक दिन आँगन में सूख चुके दरख़्त की जड़ों में पानी डालने की कवायद की तरह आप उसमें कितना भी मेकअप, क्रीम, तेल फुलेल लगाएं चेहरे की झुर्रियाँ उभर ही आती हैं.

यही हाल विधा का भी होता है. किसी भी विधा का अंतिम लक्ष्य संवाद है. कम्युनिकेशन. वो तब ही पूरा होता है जब कहने-बताने वाला और सुनने-पढ़ने-देखने वाला एक प्लेटफॉर्म पर आ जाएं. ये अलग बात है कि यहाँ से उनके रास्ते अलग-अलग हो जाते हैं लेकिन प्लेटफॉर्म तक पहुंचने के लिए विधा सशक्त होनी चाहिए. विधाओं की जकड़बन्दी से भी मुक्त होना एक विकल्प हो सकता है. कविता से छूटने वाली बात किसी पेंटिंग में आ सकती है और कोई अधूरी पेंटिंग किसी कहानी के ज़रिए पूरी हो सकती है.

तब्सिरा समाप्त.

3.

पिछले दिनों हिंदी भाषा के हमारे एक प्रिय लेखक ने अपनी पसंद की सात किताबों के नाम फेसबुक पर साझा किये. इसमें एक भी किताब हिंदी की नहीं है. एक किताब इस लिस्ट में ज़रूर 'दीवान-ए-मीर' है लेकिन उसमें उस प्रेमी-पति-मालिक को प्रेयसी-पत्नी-बांदी वाला रूप नहीं झलकता जिसके लक्षण ऊपर बताए गए हैं. इस लिस्ट में नॉवेल है, आत्मकथा है, पोएट्री है और कथेतर किताबें हैं.

क्यों नहीं है हिन्दी की कोई किताब? अव्वल तो ये व्यक्तिगत पसंद-नापसंद का मसला है और कंटेंट की बात है. दूसरा, इस पहली बात तक पहुंचने का ज़रिया यानि भाषा को लेखक ने न तो अपनी बांदी बना रक्खा है न ही दूसरी भाषाओं से प्रेम करने से चूका है.

सारे अच्छे गाने मो. रफी ने ही नहीं गाये हैं, सारी अच्छी शराब दोउरो घाटी में ही नहीं बनती और सेब के जैसे गालों वाली लड़कियां सिर्फ कश्मीर की घाटियों में ही टहलती नहीं मिलतीं.
बस. इतना ही समझ में आई बात हमारे.

'बात' समाप्त.

4.

ऊपर लिखा गया तब्सिरा हिंदी भाषा के लिए नहीं है. उस प्रेमी-पति-मालिक के लिए है जो दूसरी भाषा-बोली के रूप रस पीने में गुरेज़ करता है. क्योंकि 'दूसरी भाषा' उसके लिए 'दूसरे की भाषा' है.

ऊपर लिखा गया तब्सिरा हिंदी भाषा में लिखी किताबों की विधा या कंटेंट के लिए भी नहीं है. यह भी उस प्रेमी-पति-मालिक के लिए ही है जो विधाओं की जकड़बन्दी में साझे प्लेटफॉर्म का रास्ता भूल जाता है.

कुल मिलाकर 'बात' बस इतनी भर है कि अच्छा पढ़ने और लिखने के लिए भाषा-बोली-विधा का आग्रह छोड़ देना चाहिए. ये हमारी समझ है, हो सकता है कमतर हो क्योंकि कोई ज़रूरी नहीं है ट्रेन पर चढ़ने वाले सब जाने वाले ही हों, कुछ लोग विदा करने वाले भी तो हो सकते हैं.

5.

जब कोई गांठ बहुत फंस जाए तो झुंझलाहट में धागे के दोनों सिरों को खींचना नहीं चाहिए, उन्हें ढील देनी चाहिए. जब प्रश्न-उत्तर-प्रति प्रश्नों में कोई मुद्दा उलझ जाए तो उसे बहुत मोटे और मौलिक स्तरों पर समझने की कोशिश करनी चाहिए. थोड़ी सी ढील देते हुए.

कविता की भाषा के सवाल से पहले ये सवाल की जीवन किस भाषा में होना चाहिए? मुझे हमेशा लगता है कि सबसे सशक्त भाषा वही है जिसमें किसी मुसीबत में फंसा आदमी अपनी जान बचाने के लिए किसी को पुकार लगाता है और वो दूसरा उसे सुनकर, समझकर बचाने के लिए आ जाता है. एसओएस वाली भाषा. अब वो पुकार हिंदी, मंदारिन, फ़ारसी, अंग्रेज़ी जैसी किसी खालिस भाषा में हो, भाषाओं-बोलियों की खिचड़ी में हो, या उसमें इशारे भरे हों, उससे बेहतर और सच्ची भाषा हो नहीं सकती. कविता की भाषा उतनी ही सशक्त और ज़रूरी क्यों नहीं होनी चाहिए? कविता भी मनुष्यता की पुकार ही तो है.

क्या आप उस भाषा में लिख सकते हैं? आप कहेंगे 'बचाओ-बचाओ-बचाओ' कोई कविता हुई भला. मैं कहूंगा अगर आप उस पुकार को सुन नहीं पा रहे तो ये कोई जीवन हुआ भला.

जीवन, भाषा के बाहर भी बहुत कुछ है. भाषा, कविता के बाहर भी बहुत कुछ है. लेकिन कविता, बिना भाषा के सम्भव नहीं. भाषा, कविता के पास नहीं आएगी. कवि को ही अपनी कविता लेकर भाषा के पास जाना पड़ेगा.

कविता उसी भाषा में सुंदर हो सकती है जिसमें ये लोगों की बात करे और जिनकी बात करे उनतक पहुंचे. भाषा की शुद्धता से ज़्यादा आवश्यक है संवाद की परिपक्वता और भागीदारी. जिस भाषा में एक बड़ा जन-समूह छूट जाए या संवाद में इंगित अर्थ टूट जाएं तो ऐसी भाषा का क्या फायदा? 'साहित्य समाज के आगे चलने वाली मशाल' का तर्क यानि समाज को संस्कारित करने की ज़िम्मेदारी, भागीदारी वाली बात के विपक्ष में नहीं बल्कि साथ-साथ या समानांतर ही है. जीवन के ज़रूरत की भाषा और कविता के ज़रूरत की भाषा का द्वैत समाप्त होना ही समाज की भाषा का संस्कृतिकरण है.

मुझे अपनी भाषा में अभिव्यक्त नफरत के बरक्स दुनिया की किसी भी भाषा में जताया गया प्रेम चाहिए.
ध्यान रहे ये सारी बात भाषा की को रही है इसे कथ्य से रिप्लेस न कर लिया जाए. बात को कहने के तरीके की बात है ये, बात की बात नहीं. बहुत कम्युनिकेबल कविता भाषा में अगर ख़राब विचार उलीचे जाएं तो इसे, यानि कविता को किसी भी दशा में अच्छा नहीं कहा जा सकता. बिना साज-श्रृंगार के भी सुंदर बात कही जा सकती है, बहुत सुसज्जित भाषा में गालियाँ भी दी जा सकती हैं.

डेड पोएट्स सोसाइटी फ़िल्म का नायक कहता है- We don't read and write poetry because it's cute. We read and write poetry because we are members of the human race. And the human race is filled with passion. And medicine, law, business, engineering, these are noble pursuits and necessary to sustain life. But poetry, beauty, romance, love, these are what we stay alive for. That you are here - that life exists, and identity; that the powerful play goes on and you may contribute a verse. What will your verse be?

(हम कविता इसलिए नहीं लिखते-पढ़ते क्योंकि ये सुंदर है. हम कविता इसलिए लिखते-पढ़ते हैं क्योंकि हम इस मानव जाति के सदस्य हैं और मानव जाति जुनून

से भरी हुई है. चिकित्सा, कानून, व्यापार, इंजीनियरिंग ये सब नेक काम हैं और हमें ज़िंदा रखने के लिए आवश्यक हैं. लेकिन कविता, सौंदर्य, इश्क़, प्रेम ये सब ऐसी चीज़ें हैं जिनके लिए हम ज़िंदा रहते हैं. अब जबकि (जीवन और पहचान का) एक शक्तिशाली खेल चल रहा है और तुम इसमें एक कविता का योगदान कर सकते हो तुम्हारी कविता कौन सी होगी?)

6.

कविता की बात में फ़िल्म?

इसलिए, क्योंकि जो बात भाषा के लिए कही गई उसी तरह की बात कविता के फॉर्मेट के लिए भी कही जा सकती है. कविता एक अभिव्यक्ति ही तो है और अभिव्यक्ति का कोई निश्चित स्वरूप नहीं होता है, न ही होना चाहिए. भाव या विचार उस रूप में बाहर आने चाहिए जिसमें कवि के आशय से कम-से-कम विचलन हो. अभिव्यक्ति के बनाए गए ढांचे समझ की सुविधा के लिए ही हैं. ऐसा नहीं होना चाहिए कि उसी ढांचे में फंसकर ही रचना की मृत्यु हो जाए. रचनाकार के अभीष्ट से जितना ज्यादा दूर होगी रचना, उसकी प्राण वायु उतनी ही कम होगी. हाँ, रचनाकार और रचना के बीच एक दूरी ज़रूर रहनी चाहिए.

किसी भी विधा का अंतिम लक्ष्य संवाद है. कम्युनिकेशन. कम से कम दो लोगों के बीच. हो सकता है उसके दोनों सिरों पर आप ही हों. संवाद तब ही पूरा होता है जब कहने-बताने वाला और सुनने-पढ़ने-देखने वाला एक प्लेटफॉर्म पर आ जाएं. ये अलग बात है कि यहाँ से उनके रास्ते अलग-अलग हो जाते हैं. वो कविता कैसे मुकम्मल समझी जाए जो दो सिरों को मिलाने की कोई सूरत न बना सके.

मुझे वो कविता नहीं पसंद जो अपने ढंग की कविता होने की ठसक में रहे और इस वजह से वो शब्द, भाव या विचार न ला सके जो किसी अन्य तरीके से आ सकते हैं.

वो कौन सा शिल्प हुआ जो मूरत गढ़ने में नायक को खलनायक सा दिखा दे?

इसे इस तरह से समझा जाए. जैसे कला की कोई भी विधा अपने आप में मुकम्मल नहीं हो सकती. कविता से छूटी हुई बात संगीत में उठाई जा सकती है. हो सकता है जो बात कहानी में कहना मुश्किल हो, उसे एक पेंटिंग के ज़रिये आसानी से कह दिया जाए. उसी तरह से कविता का भी कोई एक निश्चित ढांचा नहीं हो सकता. कोई साँचा नहीं बना आज तक जो सारी ज़रूरी रस, अलंकार, छंद, भाव आदि-आदि चीज़ों को घोंट-घाट के एक मुकम्मल कविता बना कर प्रस्तुत कर दे. ये अभिव्यक्ति, अनुभूति और आस्वादन का मामला है.

- सो, ओ कैप्टन माई कैप्टन! माइ वर्स विल डेफिनेटली डील विद लाइफ, नो मैटर वाट शेप, साइज़ एंड स्ट्रक्चर इट अडॉप्ट्स!

***

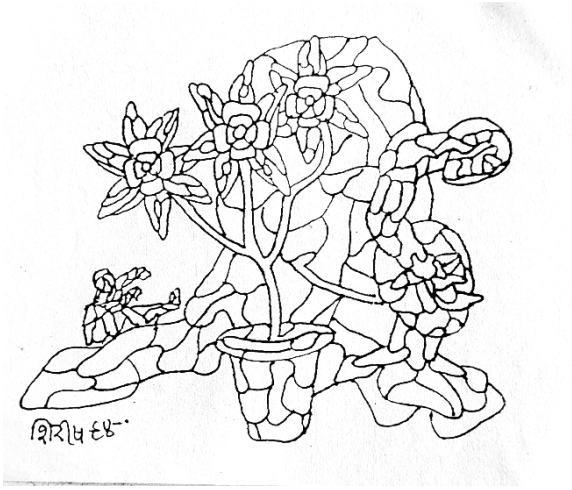

प्रकाशकीय विवरण

प्रकाशक
मेधा नैलवाल
medha.nailwal.anunad@gmail.com
medhanailwal@anunad.com

प्रकाशकीय पता
द्वारा प्रो. शिरीष मौर्य, वसुन्धरा ।।।, भगोतपुर तड़ियाल, पीरूमदारा, रामनगर, जिला- नैनीताल (उत्तराखंड) पिन- 244 715

मुख्य सम्पादक
शिरीष मौर्य
shirishmourya@anunad.com

सम्पादक
मेधा नैलवाल
medhanailwal@anunad.com

परामर्श मंडल
हरीशचन्द्र पाण्डे (संरक्षक)
harishchandrapandey@anunad.com
लीलाधर मंडलोई
leeladharmandloi@anunad.com
सुबोध शुक्ल
subodhshukla@anunad.com

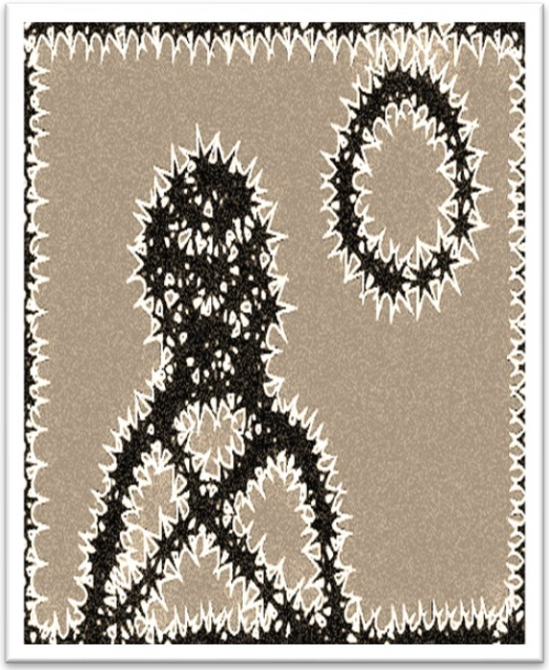

अनुनाद के सितंबर 2023 में प्रकाश्य अगले अंक के लिए रचनाएँ आमंत्रित हैं। आप **कविता, कहानी, आलोचना/समीक्षा, कथेतर गद्य** और **समाज और संस्कृति** जुड़े आलेख हमें medha.nailwal.anunad@gmail.com पर भेज सकते हैं।

रचनाएं यूनीकोड फॉन्ट में ही प्रेषित करें।